जयन्त

जयन्त

—जगदीश गुप्त

जयभारती प्रकाशन

447 पीलीकोठी, नई बस्ती,कीडगंज,

इलाहाबाद

(संस्करण-1991)

अनुक्रम

1- भूमिका
2- कृति-समर्पण : निराला के प्रति
3- मंगल-छंद
4- लीला-पथ
5- अभिज्ञात जयन्त
6- प्रजापति मुख से
7- कवि-शब्द
8- इन्द्र-छवि
9- इन्द्र -पथ
10- इन्द्र -गीत
11- अमरावती
12- परिणय-गीत
13- शचीन्द्र-सम्बन्ध
14- जयन्त-जन्म
15- ब्रह्महत्या-प्रसंग
16- जयन्त
17- सीता-जयन्त
18- राम का मन
19- स्वप्नमय राम
20- बाधक जयन्त
21- सीता-कर्षण
22- इन्द्र की आकांक्षा
23- काक-दृष्टि

24- रुधिर-प्रवाह
25- बाण-बोध
26- दया भाव
27- नारद-शाप
28- अपराध-मोक्ष
29- काक-विकल्प
30- व्यापक राम-कथा संदर्भ
31- समापन स्वर
32- समापन
33- दृष्टि-कोण
34- गति-बोध

❖

कवि-कथन

- जगदीश गुप्त

किसी जाग्रत रचना-क्षण में अचानक शचीन्द्र-पुत्र जयन्त के प्रसंग ने मुझे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध को सर्वथा नये आयाम से देखने की प्रेरणा दी और उसी प्रेरणा ने मुझे काव्य-भूमि पर इतना सक्रिय तथा कल्पनाशील बनाया कि आज रचना पूर्ण करने के बाद कह सकता हूँ कि वह अनुभव मुझे 'शम्बूक' और 'गोपा-गौतम से भी विशिष्ट लगा। एक असाधारण मानसिक स्थिति में स्मृति-हानि और अन्तसंघर्ष से चित्र-रचना के संस्कार द्वारा उसका पुनरुद्भव मेरे जीवन की ऐसी घटना रही जिसकी चेतना मुझको अपने भीतर निहित जीवनी-शक्ति से साक्षात्कार कराती हुई भी एक विचित्र भावनात्मक संकोच में डाल देती है।'जयन्त' को मैंने महीनों की अथक संलग्नता और निरन्तर प्रेरित रचनात्मकता के बीच उस जीवन्त आधार की तरह पाया जो आदमी को समुद्र में बहते हुए प्राणी को विवशता से उबार लेता है। अब मैं उस संकोच-भाव से भी बहुत कुछ मुक्त हो चुका हूँ जो मेरी वाणी पर एक अभिशाप के रूप में इतने दिनों तक भयावह काली छाया बनकर मेरे मन के भीतर व्याप्त रहा।'राम की शक्तिपूजा' के कवि ने शक्ति को अपने पक्ष में लाने का साहस दिया और मुझे 'जयन्त' जैसे नये काव्य-प्रतीक की संभावनाओं से आपूरित कर दिया। अजस्त्र रचना-क्रम में मैंने अपने को नये सिरे से पहचाना। यह बात दूसरी है कि पूरी रचना मेरे निजी अनुभव को युगानुरूप कोई सार्थकता दे सकी या नहीं। मैं अपने रचना-क्रम को सदैव सामान्य मनुष्य की इच्छा-आकांक्षा से जोड़कर देखता रहा हूँ। मेरी दृष्टि केवल विशिष्ट समीक्षकों तक सीमित नहीं रही है यद्यपि उनका महत्व मेरे आगे कम नहीं है। मैं उनके विषय में महाप्राण निराला जैसी नितान्त उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त करने में सक्षम नहीं हूँ और न वैसा सोचता हूँ।

प्राचीन और मध्यकालीन प्रतीक-विधान ने जीवनानुभव को ध्रुवान्तों

तक ले जाकर स्वर्ग और नरक के परस्पर-विरोधी कल्पना-लोक में पहुँचा दिया जो आधुनिक मनुष्य के यथार्थ संघर्ष से बहुत-कुछ कटा हुआ दिखायी देता है। पर सांस्कृतिक दृष्टि से कला और साहित्य-जगत् से उसकी महत्ता समाप्त नहीं होती। हर संवेदनशील कवि के लिए अपने अनुभव को सांस्कृतिक

पीठिका देने में उसकी अनिवार्यता और उपादेयता बनी ही रहती है। विशेषतः जब समस्याओं का नंगापन निष्प्रेरक और सुन्दर लगने लगे। कविकर्म को नयी चुनौती देने में भी उसका असामान्य योगदान रहता है क्योंकि सोचने का ढंग और भाषा की भंगिमा किसी निराकार शून्य द्वार से मन तक नहीं पहुँचती। उसके लिए पहचान का दायरा विशाल से विशालतर बनाये रखना अनिवार्य होता है जो अनुकूल-प्रतिकूल, शुभ-अशुभ आगत-अनागत तथा नूतन और पुरातन की सीमाएँ निरन्तर तोड़ता रहता है। अपनी जमीन पर टिके रहकर अपने भीतर से प्रवाहित रचनात्मक स्त्रोत को बाहर की अनुर्वर भूमि पर बहते देखना रचनाकार के लिए तभी संभव होता है जब वह अंकुरों में अदृष्ट रूप से अपने को समाया हुआ अनुभव करता हो और हर बीज उसके अन्तर्तम में नया रूप ग्रहण करने के लिए आकुल दिखायी देता हो। पुराण कथाएँ भी मनुष्य को नये अर्थ में परिभाषित करती हुई प्रेरक दिखायी देने लगती हैं। उसका बाधक होना तथा उनके स्वरूप को पिघला कर दूर किया जा सकता है और यह रासायनिक क्रिया उनके अन्वेषण, उत्खनन, परिष्करण और संयोजन की अपेक्षा रखती है। इसके लिए रचनाकार को बहुधा निर्मम हो जाना पड़ता है। नरक और स्वर्ग का भेद, असुर और सुर का अन्तर तथा पशु-पक्षी और मनुष्य का पार्थक्य एक जगह जाकर बेमानी हो जाता है क्योंकि मानवता सबको अतिक्रमित करने की शक्ति रखती है। सृष्टिकर्मी होने के साथ प्रवृत्तिधर्मी होकर तो यही लगता है कि उसकी संभावनाएँ अनन्त हैं।

जयन्त का व्यक्तित्व

जयन्त के व्यक्तित्व को लेकर शची और इन्द्र में विसंगति तथा सीता और राम में संगति आधार रूप में मुझे उपादेय लगी, किन्तु साहित्य में ऐसे अनेक

पृष्ठ संख्या (ग)

स्थल हैं जिनमें दोनों की संगति प्रदर्शित की गई है, जैसे—तुलसी में **'शची पतिप्रियनुजम्'** तथा **'ज्यों वासव बस अमरपुर सची जयन्त समेत'**। दूसरे स्तर पर स्वयं तुलसी **'मघवा महा मलीन मुएहि मारि मंगल चहत'** तथा **'सूख हाड़ लै भाज सठ स्वान निरखि मृगराज.....तिमि सुरपतिहिं न लाज'** और **'सरिस स्वान मघवान जुवानू'** का पाणिनि समर्थित प्रयोग निर्दिष्ट करते हैं। इन्द्र का ऋग्वेदीय गरिमामय-महिमामय व्यक्तित्व देवराजत्व की जगह परम स्वार्थी, निन्द्य, अधम पशु श्वान की तरह चित्रित किया जाय और अन्ततःलोकग्राह्य हो जाय तो यह विसंगति एवं विडम्बना सांस्कृतिक दृष्टि से न जाने कितने प्रश्न, कितनी समस्याएँ सामने ले आती है। कामायनी रचने के क्रम में प्रसाद जी ने इसे लक्षित किया था। एक ओर इन्द्र-मह, इन्द्र-यष्टि, इन्द्र-ध्वज के रूप में इन्द्र की ऐसी पूजनीयता कि विष्णु भी उनके समक्ष, 'उपेन्द्र' मात्र दिखायी दिये हों दूसरी ओर विष्णु के अवतारों के सामने उत्तरोत्तर अशक्त और नगण्य सिद्ध हुए हों और अन्ततः कुटिल कर्मी होकर भी उनके भक्त एवं सहायक माने गये हों; तो तेहरा आश्चर्य होने लगता है। भारतीय देववाद का उद्भव, विकास और ह्रास इन्द्र में जैसा प्रतिबिम्बित है, वैसा कदाचित् किसी अन्य भारतीय देवी-देवता में लक्षित नहीं होता। अपने पिता के समान जयन्त भी कभी सूर्य-रूप में लोक-पूज्य था, यहाँ तक कि उसे उपेन्द्र भी माना गया है। जयन्त-विधि उसकी पूजा का प्रमाण है। विष्णुसहस्त्रनाम में विष्णु के नामों में 'जयन्त' नाम भी आता है और उसे सर्वविजयी उपाधि भी दी गयी है।—

जयन्तः सर्वविजयी ।।89।।

समुद्र-मंथन की कथा में जयन्त को अमृत-कलश की रक्षा का दायित्व दिया गया। वह रूपासक्ति और लोभवश उस कलश को अन्तरिक्ष और पृथ्वी में लेकर भागता फिरा।

इन्द्र और शची

उसकी बहन जयन्ती सुरपति-दुहिता होकर भी असुर-गुरु शुक्राचार्य

पृष्ठ संख्या (घ)

की पत्नी बनी और देवयानी की माता के रूप में विख्यात हुई। देवताओं और असुरों के बीच जो असाधारण परिणय-सम्बन्ध शची के इन्द्राणी बनने पर आरम्भ हुआ, वह पहले यरेण्य माना गया। इन्द्र ने अपने प्रधान शत्रु वृत्र के पक्षधर पुक्षोम का वध करके उसकी पुत्री शची या पुलोमजा को पहली बार स्वयंवर प्रथा का उद्भावक बनाया और इन्द्रणी पद पर प्रतिष्ठित किया। शची भी जयन्त की माता होकर सप्त-भातृकाओं में परिगणित होने लगी यहाँ तक कि वह अन्ततः महामाता गिनी जाने लगी।

विदर्भ में इन्द्राणी का मन्दिर था जिसकी पूजा भागवत के अनुसार विवाह से पूर्व मनोरथ-सिद्धि के लिए रुक्मिणी ने की थी। कहते हैं इन्द्र-इन्द्राणी विदर्भ-निवामियों के कुल-देवता थे। इन्द्राणी केवल जयन्त की ही माता नहीं थी। उसके दो पुत्र और भी बताये गये हैं, पर उनमें जयन्त सर्वोपरि सिद्ध हुआ। जयन्त ने अपने पिता के साथ अनेक युद्धों में भाग लिया तथा विजयश्री भी प्राप्त की, किन्तु रात-कथा में उसका व्यक्तित्व इन्द्र से भी अधिक गौरवहीन और शक्तिहीन होकर सामने आया है। इन्द्र तो देवराज पद के कारण फिर भी कई जगह आदरणीय माने गये हैं, पर साहित्य में जयन्त को कदाचित् उतना भी गौरव प्राप्त नहीं हुआ। नारद के अतिरिक्त उसे सम्भवतः किसी ने भी सहानुभूति नहीं दी और वह भी मरणान्तक परिस्थिति में झेले गये भयानक संत्रास के बाद दिशाहीन जयन्त की विषम मानसिकता परंपरागत देहात्मवादी संघर्ष से उपजा उसका अन्तर्द्वंद्व शची और इन्द्र के बीच सत्तापरक विरोधी स्थिति का दंश तथा सीता के प्रति उसके अवचेतन में पलता हुआ उसका तारुण्य-तापजन्य अपराध-क्रोध शायद अभी तक अछूता ही रहा है**। 'मातु मृत्यु पितु समन समाना'** कहकर माता की समता मृत्यु और पिता की तुलना यमराज से की गई है। क्रान्ति और संत्रास के भीतर पनपती हुई आज की युवा-मानसिकता भी इससे अधिक और क्या कह सकती है। नारी-अपराध के लिए इतना बड़ा दण्ड कि कहीं भी कोई रक्षक नहीं सिद्ध हुआ। अभिभावकों के साथ वृहस्पति जैसे गुरु भी

पृष्ठ संख्या (ङ)

अशक्त हो गये। सारे समाज ने उसे तिरस्कृत कर दिया। जिस नारी के प्रति उसने अपराध किया, उससे 'क्यों' और 'क्या' की बात ही नहीं उठायी गयी। अविवाहित जीवन, विलासी वातावरण, सोम-पान, मदान्धता और स्वार्थ-दृष्टि से होने वाले सारे राजनीतिक निर्णय सम्मिलित रूप से आज की युवा-मानसिकता को जो प्रतीकात्मक अर्थ देते हैं, हो सकता है कि मेरे काव्य में आकर 'जयन्त' उसका संवहन कर सके।

नारद-

नारद-जैसी असाधारणता, विचित्रता और कठोर-कोमल संत-स्वभाव किसके पास होगा कि कोई कवि उनके पथ पर चल सके।पर इसमें संदेह नहीं कि उनकी सांस्कृतिक दृष्टि ने मुझे निश्चित प्रेरणा दी है। दण्डनायक राम से वे अधिक मानवीय दिखायी दिये। नारद-भक्ति-सूत्र में काम, क्रोध, आदि के विषय में उनकी घोषित मान्यता आज भी निराधार और निरुपयोगी नहीं लगती। यथा- **'कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयः'**। मन की उपचेतन एवं अवचेतन गति से जुड़ा हुआ काम-भाव ही संस्कारों में बँधकर परिष्कृति और विकृति दोनों रूपों में वस्तुजगत् तथा कलाजगत् को प्रभावित करता रहा है। अध्यात्म में इन वृत्तियों और प्रवृत्तियों से युक्त मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण बन जाता है। **मन एवं मनुष्याणां का मरणं बन्धमोक्षयोः**। पाश्चात्य काम-चिन्तन नें अपराधों और विकृतियों से उसे जिस प्रकार सम्बद्ध किया है, उस प्रकार संस्कृति और सौन्दर्य से नहीं। अध्यात्म की दिशा में भारतीय चिन्तन बहुत आगे रहा है और भी प्रेरणादायक लगता है। जयन्त की अपराध-वृत्ति

को मैंने दोनों विचारधाराओं से समन्वित करके जीवन्त रूप दिया है। उसके व्यक्तित्व में मेरे द्वारा प्राप्त लोकानुभव का भी समायोग हुआ है। जिसके अनेक स्तर लक्षित किये जा सकते है। शची और सीता दोनों से जयन्त का सम्बन्ध मिथकीय अर्थ में जटिल और महामातृत्व-मूलक दिखायी देता है जिसमें अपराध व्यक्ति के अस्तित्व का अंग बनकर प्रकट होता है। क्षमा और दण्ड में उसकी सम्पूर्णता का क्रोध

नहीं हो पाता, और न उसका निरसन ही । सामाजिक स्तर पर जो सहज स्वीकार्य लगता है, मानसिक स्तर पर किन्हीं अन्तर्निहित कारणों से वह कदापि ग्राह्य नहीं हो पाता। किन्तु जीवन की खण्ड दृष्टि सही सौन्दर्य दृष्टि नहीं है। कलात्मकता भी उससे अपरितृप्त रह जाती है। मैंने इसीलिए नर-नारी के संदर्भ में युवा-मानसिकता को खण्डहीन कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने का साहस किया है। हो सकता है, कुछ लोगों को मेरा साहस दुस्साहस प्रतीत हो, पर मुझे उसके लिए कोई खेद नहीं है क्योंकि उसके दृष्टिकोण को तो अनुभव और चिन्तन दोनों स्तरों पर सही नहीं मानता है। परम्परा मुझे शक्ति देती है, बाँधती नहीं।

सत्य तो यह है कि उसी अपराध-भावना के परिहार की प्रेरणा से यह काव्य-कृति रची गयी है। पौराणिक परिकल्पना जिसे वरदान और अभिशाप के रूप में प्रस्तुत करती है, कविता उसे मानव-मनोभाव की श्वेत-श्याम छवियों से अंकित करती रही है | उसमें जो भी रंगमयता मिलती है, वह प्रायः रेखाबद्ध रूप में सामने आती है, जैसा पोर्वात्य कला का स्वाभाव रहा है, आज रेखाएँ टूटने लगी हैं और रंग बिखरते जा रहे है, फिर भी प्रयोगशील कला मुझे अर्थपूर्ण लगती है क्योंकि उसका अनुभव-क्षेत्र युगानुरूप बदलने का साहस रखता है। पात्र रूप जयंत के भीतर शम्बूक जैसी उत्कट तेजस्विता और तर्कशीलता नहीं है जो राम को अन्ततः निरुत्तर कर देती है और न गौतम के अन्तर्मन की पीड़ा ही झलकती है जो वीतराग बनाने और गृह-त्याग करने की प्रेरणा देती है। तो गोपा के समक्ष स्वयं निरुत्तर हो जाते हैं। उनका कर्म ही उनका उत्तर बन जाता है जो उन्हें गोपा से बड़ा बना देता है। 'जयन्त' में काव्य-भूमि इसीलिए संवादकेन्द्रित नहीं है, भले ही कुछ जगह संवादात्मकता भी ध्यान आकृष्ट कर सकती है। जयन्त का मन अधिकतर अभिशाप केन्द्रित है। उसे केवल 'जयन्त' कहने की जगह 'अभिशाप जयन्त' कहना उपयुक्त लगता है, पर मैं अन्ततः वैसा नहीं कर सका क्योंकि स्थूलशिरा या स्थूलशिरा के शाप

का उल्लेख तो मिला, पर आधार सुलभ नहीं हो पाया। उस कथा को मेरी स्थूल शिराएँ भी नहीं खोज सकीं और अन्ततः हार गयीं। मेरे विचार से मांसलता ही उसका सबसे बड़ा अभिशाप है जिससे वह अन्त तक मुक्त नहीं हो सका। मुझे लगता है कि उसकी दृष्टि की स्थूलता ही स्थूलशिरा का वह शाप है जो उसे अन्त तक प्रौढ़ता नहीं पाने देता। या तो वह शिशुओं के बीच खप पाता है या वयस्क होकर भी अन्ततःअवयस्क बना रहता है। शची का वात्सल्यातीत अनुराग उसमें प्रेरणात्मक प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न करता, वरन् उसे वितृष्णा से भर देता है। उसके मन में नारी की वह छवि आकर्षक बनकर समा जाती है जो अपराध-भाव से ऊपर उठकर करुणा और स्नेह देने में सक्षम हो। सीता के प्रति जयन्त में इसीलिए विशेष आकर्षण जाग उठता है, पर वह अन्ततः आकर्षण की भूमि से हटकर परीक्षण की भूमि में पहुँच जाता है और शची के पूर्वानुभव से उसका मन विकृत हो उठता है। उसका काक-पक्षी बनकर राम-रूप ग्रहण करना संभव नहीं हो पाता, क्योंकि सीता की दृष्टि वह मनोहारी देव-बालक, अधिक से अधिक देव-युवा की छवि प्राप्त कर पाता है जो उसके पौरुष को राम के आगे नगण्य सिद्ध कर देती

है। तृण-शर और उसकी अपार शक्तिमयी त्रिलोकव्यापी पौराणिक कल्पना आज मुझे राम के अलौकिक अवतारी रूप की जगह उनके लौकिक मानवीय रूप से परिचालित तृण-शक्ति की जगह जन-शक्ति का स्मरण दिलाती है। निश्चय ही जयन्त का व्यक्तित्व मेरे आगे जनाधार और जनशक्ति का प्रेरक होकर नहीं आया। उसका चरित्र स्वयं सीता के मन में भी राम से अधिक मूल्यात्मक आकर्षण उत्पन्न न करके क्रीड़ा-कौतुक मात्र तक सीमित हो जाता है। वाल्मीकी रामायण में सीता स्वयं राम से उसको दण्डित करने का प्रस्ताव बार-बार वक्षाहत होकर नारी-सुलभ अश्रुमयता के साथ अनेक रूपों में व्यक्त करती है। गौतम-पत्नी के प्रति अपराध-परम्परा के संस्कारों से उपजा इन्द्र-पुत्र और क्रूर-कर्मी हो उठता है। अपनी पत्नी के प्रति अपराधी जयन्त को राम जन-बल से नगण्य नारी-लज्जा के प्रतीक

तृण को विराटता देकर ब्रह्मशर बना देते हैं। नारी-रक्षा राम के व्यक्तित्व का सर्वविदित रूप रहा है जो उनके वाण की अमोघता से जुड़कर जयन्त की कथा को पौराणिक दीप्ति दे देता है।

राम-कथा में यद्यपि राम और सीता के अभिन्न अन्तर्सम्बन्ध की असीम दार्शनिक गरिमा दी गयी है जिसे तुलसीदास ने भी माना है, तथापि यह सत्य है कि लौकिक दृष्टि से राम के द्वारा कहे गये दुर्वाद तथा सीता की पुनःअग्नि-परीक्षा जैसी निर्वासन-स्थिति उनके चरित से भवभूति को करुणामय बना देती है। तुलसी के 'कछुक दर्वाद' का सही रूप वाल्मीकि रामायण में मिलता है। निश्चय ही उसका दंश सीता के हृदय पर आजीवन बना रहा और उनके भीतर का युग्म भाव उससे अधिक आहत हो उठा जितना कदाचित् जयन्त के पंजो से विदीर्ण होकर भी न हुआ होगा। इसीलिए भारतीय मानस के अनुरूप मेरे मन में राम से अधिक सीता की कारुणिक छवि विशेष सांस्कृतिक गरिमा प्राप्त करती रही है जो इस काव्य में लक्षित होगी।

युग्म-भाव मूलतः शैव-चिन्तन और तांत्रिक साहित्य में जितना पल्लवित हुआ, उतना वैष्णव-साहित्य में नहीं। आगे जो उसका विकास भारतीय साहित्य में मिलता है, उस पर शैव-साहित्य का निश्चित प्रभाव दिखायी देता है। कृष्ण-काव्य में उसका रूप कामात्मक होकर भी अन्ततः शिव की तरह कामजयी होकर प्रतिष्ठित हुआ है। राम-काव्य भी उससे कई रूपों में प्रभावित हुआ, पर मूलतः राम-कथा के उत्तरांश में वह खण्डित होता हुआ जान पड़ता है। राम का मर्यादावादी रूप उसके आड़े आकर उसे विशुद्ध युग्म-भाव नहीं बनने देता। अन्ततः वह कृष्ण-काव्य की तरह रस-कोटि में न आकर भाव-कोटि तक परिसीमित हो जाता है। राम-कथा को जयन्त-प्रसंग ही कृष्ण-कथा से सीधे जोड़ता है, अतः मैने भी माना है कि राम-सीता का शृंगार भाव राम-कथा में खण्डित होकर कृष्ण-काव्य में अपनी चरम अपनी परिणति प्राप्त करता है। जयन्त में मैंने इसी आधार पर नारद के शाप और भागवतादि पुराणों में संकेतित कारण से कृष्णलीला को जोड़कर लीला-मय के रूप में

प्रस्तुत किया है जो अन्त में अपना मर्म खोलता है। युग्म-भाव को मनोभूति से द्वैताद्वैत की जितनी प्रतीति होती है, उतनी आधुनिक युग में 'अद्वैत' की नहीं आधुनिक युग में स्त्री-पुरूष अपने-अपने व्यक्तित्व की सार्थकता का स्तर छोड़कर सर्वथा अद्वैत की भूमिका में नहीं पहुँच पाते, वरन उनका मुख भीतरी और बाहरी दोनों ओर से द्वैतात्मक होता जा रहा है। स्त्री-पुरूष सम्बन्ध इसीलिए आरोपित अद्वैत-भाव से दुमुँहें साँप की गति से पड़ जाते हैं जिसमें अन्दर का सत्य प्रेरक न होकर बाहरी स्थितियों से परिचालित सत्य से घिर जाते हैं। खण्ड सत्य को निरस्त करके अखंड सत्य की प्रतीति कराने की जगह आधुनिक साहित्य की मनोभूमि में आरोपों के सहारे आता है। जो साहित्यिक कृतियाँ आरोप के स्तर से ऊपर उठकर गहरे संवेदनात्मक स्तर का स्पर्श कर पाती हैं, वे निश्चय ही सराहनीय प्रतीत होती हैं। स्नेह-

सम्बन्ध की यह विषमता राजनीतिक सम्बन्धों में भी दूने वेग से लक्षित होती जा रही है। मेरा 'युग्म' इसीलिए उसके बाद की मेरी कृतियों को निरस्त नहीं करता, वरन् उसे अधिक संगत आधार प्रदान करता है। 'जयन्त' मेरे निकट युग्म-भाव की बाधित अनुभूति के भीतर उदित होती हुई आत्म-विजय का काव्य है। सीता में करुणा का निरूपण राम की अकारुणिकता का पूरक होकर आया है। क्रोध के रूप में व्यक्त होती हुई राम की नैतिक धारणा सीता और नारद में उत्पन्न करुणा के द्वारा मानवीय रूप ग्रहण करती है। नारद का व्यक्तित्व पुरुष-मन से अधिक नारी-मन से पहचाना जा सकता है | **'तत्रापि न माहात्म्यज्ञान विस्मृतत्यपवादः'** माहात्म्य-ज्ञान छोड़कर ही स्नेह का लौकिक पथ भक्ति के राजमार्ग तक पहुँचाता है जो काव्यबद्ध होकर आलौकिक सुख देता रहा है मैंने भी अपने अनुभव में उसका साक्षात्कार करने की चेष्टा की है और उसकी अभिव्यक्ति भी सहृदयों के सामने रख दी है। फिर मुझे कालिदास की पंक्ति याद आती है—**'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञानम्'** नाटकीय प्रयोग की जगह मुझे नयी कविता में भीतर समाहित प्रयोगशीलता का अर्थ आज अधिक ग्राह्य लगता है।

पृष्ठ संख्या (ञ)

इधर प्रगतिवाद नयी कविता के उस विशद अर्थ को ग्रहण करने से इन्कार करने लगा जो नयी कविता-आन्दोलन द्वारा व्यापक रूप से प्रतिष्ठित हो चुका है। उल्टी गति बहुत दूर तक चलायी नहीं जा सकती, ऐसा मेरा विश्वास है।

रामकथा-संदर्भ और जयन्त के काक-वेश की अर्धवत्ता

बहुत-सी पौराणिक कथाएँ लोक-कल्पना और लोक-विश्वास पर आधारित मिलती हैं। मूलतः उनमें या तो जीवन्त काव्यत्व सन्निहित रहता है या जीवनानुभव की गहरायी जो उनकी असाधारणता तथा लोकप्रियता की अलग पहचान कराती है और वही ऐसी कथाओं को लालित्यपूर्ण प्रतीकात्मक एवं अविस्मरणीय मिथकीयता देती रहती है। रामकथा में भी ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें दो मुझे विशेषतः उल्लेखनीय लगते है। एक प्रसंग है शुक्र-पुत्र काकवेशी जयन्त का जो कौए के कानेपन, यानी उसकी एक आँख होने के लोक-विश्वास से जुड़ता है और दूसरा प्रसंग है समुद्र-संतरण के संदर्भ में राम की सहायता करने वाली गिलहरी का जिसके शरीर पर राम ने स्नेहवश ऐसे स्पर्श किया कि उनकी उँगलियों से तीन रेखाएँ उसकी पीठ पर सदा के लिए बन गयीं। दोनों प्रसंग जीव-जगत् से रामकथा को जीवन्त रूप से जोड़ते हैं, पर काक-प्रसंग दोनों में अधिक लोक-ग्राह्य है।वह इस बात पर आधारित है कि कौआ काला, कुरूप, चाण्डाल, अशुभ, अकर्मी और कर्कश वाणी बोलनेवाला अपशकुनी पक्षी है जो एक आँख से ही देख पाता है तथा जिस व्यक्ति के सर पर बैठ जाता है, वह अपनी प्राण-रक्षा के लिए समाज में मौत की झूठी खबर फैलाने पर विवश हो जाता है। उसका रूप मृत्यु से जुड़ कर भयावह और मांस-भक्षी होने के कारण चोंच और पंजो से कठोर प्रहार करने वाला घातक माना गया है। उसको प्रायः अप्रियता ही मिलती रही है। केवल प्रिय के आगमन का सांकेतिक समाचार देने के कारण भारतीय मानस उसे स्वागत योग्य मानता रहा है। नायिका द्वारा उसके प्रति अनुनय-विनय मनुहार और समादर की अनेक काव्यात्मक उक्तियाँ एवं स्मरणीय कल्पनाएँ मिलती हैं जो उसके असाधारणत्व को और उजागर कर देती हैं। पौराणिक साहित्य में भी

पृष्ठ संख्या (ट)

काक-भुशुण्डि का एक अनुकूल प्रसंग मिलता है जो उसे परम ज्ञानी, श्रेष्ठ वक्ता, त्रिकालज्ञ और विवेकी-भक्त के रूप में सामने लाता है जो रामकथा में विशेष स्थान रखता है। राम के उदर में प्रविष्ट होकर

ब्रह्माण्ड-दर्शन करके राम की अनन्त महिमा का अनुभव उसी प्रकार करता है, जैसे अर्जुन के भयातुर होने के बाद विराट् विश्व-रूप का दर्शन किया था। रामकथा में जयन्त एक प्रकार से काक-भुशुण्डि का प्रतिलोम दिखायी देता है। यों कृष्णकथा में भी वह अनुकूल-भाव रखता हुआ, भक्तों की दृष्टि में ईर्ष्या का विषय बन जाता है—

'काग के भाग कहा कहिये, हरि हाथ ते लै गयो माखन रोटी।'

तुलसी के मानस में काक-भुशुण्डि स्वयं इस रूप में आता है—

जूठनि परै अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ।
.....चलेउँ भागि तब पूप देखावहिं।

कृष्ण-काव्य में लीला-तत्व अधिक प्रेरक रूप में आता है क्योंकि उसमें मर्यादा का नैतिक बंधन आनंद की सहजगति को कुण्ठित नहीं करता, पर राम-काव्य की विशेषता न केवल प्रारंभ से ही उसकी नीतिमत्ता और मर्यादावादिता से जुड़ी है, वरन् उसे अन्ततः प्रधान मान कर चलने में अपना गौरव समझती रही है। रसिक-सम्प्रदाय और उसमें अन्तर्भुक्त तान्त्रिक दृष्टि ने सीता को राम से अधिक महत्व प्रदान करते हुए रामकथा की अन्तश्चेतना को पुरुष प्रधान मानसिकता से नारी-प्रधान मानसिकता में बदलने का असाधारण प्रयत्न किया, परन्तु रामकथा का मूलरूप इतना मर्यादावादी रहा कि तान्त्रिक प्रभाव और साम्प्रदायिक रसिकता साहित्यिक एवं सौन्दर्यात्मक स्तर पर ऐसा मेल स्थापित नहीं कर पाती कि सूक्ष्म संवेदनात्मक अनुभव को निर्बाध रहने दे। एक ओर मर्यादा की दृष्टि से काक-जयन्त द्वारा सीता का वक्ष-स्पर्श, जो वाल्मीकि में अनेक बार स्पष्टतः वर्णित है, अग्राह्य माना गया और तुलसी जैसे दास्य-भाव के कवि ने **'सीता चरन चोंच हति भागा। मूढ़ मंद मति कारन कागा।'** लिखना आवश्यक समझा। दूसरी ओर टीकाकार अनेकार्थी व्याख्याएँ

करके उसमें परिवर्तन की प्रक्रिया को नकारने की कोशिश करते रहे हैं। मैंने वाल्मीकि रामायण को प्रधान स्रोत के रूप में ग्रहण किया है। अन्य प्रसंगों तथा काव्य-ग्रंथों में वर्णित 'जयन्त' की कथा के विविध रूप बहुत कुछ तिरोहित हो गये। लोक-मानस में तुलसी द्वारा निरूपित काक-वृत्तांत का लोक-मर्यादा के द्वारा परिवर्तित रूप ही अधिक ग्राह्य हो गया। मैंने प्रारंभ में वाल्मीकि के द्वारा श्लोकबद्ध उन अंशों तक अपने को सीमित रक्खा जो मानस पीयूष आदि टीकाओं में उद्धृत थे और फादर कामिल बुल्के की रामकथा में संकेतित हैं। मेरी मूल कल्पना उसी तक सीमित रहती यदि मेरे मन में वाल्मीकि की कल्पना को आद्यन्त ध्यानपूर्वक देखने की प्रेरणा न हुई होती। जब मैने उसका सूक्ष्मता के साथ अनुशीलन किया तो सीता के वक्ष-स्थल पर मांस-लोभी काक के चोंच और पैरों के अनेक बार प्रहार करने की स्थिति सामने आयी जिसकी उपेक्षा मेरे लिए सम्भव नहीं थी। मुझे लगा कि आदि कवि के मन में भी काक-वृत्तांत का प्रतीकात्मक रूप अवश्य रहा होगा जिसके कारण उसके प्रहारों को आसुरी वृत्ति से जोड़ना सहज लगा। आज की मान्यता है कि देव और असुर दोनों ही मानवीय प्रवृत्तियों के ध्रुवान्त रूप हैं जिन्हें पौराणिक कल्पना ने अनेक रूपों से समृद्ध किया। आज का कविकर्म पौराणिकता को मानवीय यथार्थ के रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रतीकार्थ को समृद्ध बनाने की चेष्टा करता है। नदी की तरह उसकी कल्पना उभयतटीय गति का अनुसरण करती है। मैंने भी 'जयन्त' को देव-योनि में उत्पन्न मानवीय भावनाओं से युक्त सजीव प्राणी के रूप में प्रस्तुत किया है, फलतः मेरे लिए काक-रूप को वास्तविक मानना सम्भव नहीं हुआ। क्रीड़ा में जैसे बालक पशु-पक्षियों के रूप ग्रहण कर लेते हैं, वैसे ही मैंने सीता के समक्ष किशोर रूप में जयन्त को अन्य बालकों की तुलना में वयस्क सहचर के रूप में प्रस्तुत किया है जो काक-रूप ग्रहण करके क्रीड़ा में सहयोग देता है। सीता के प्रति उसकी दृष्टि प्रारंभ

में मलिन नहीं रही, किन्तु पैतृक संस्कारजन्य मांसलता की प्रवृति, वातावरण की अनुकूलता, राम के सो जाने के बाद एकान्त स्थिति,

का असीम सौंदर्य एवं तारुण्यमय आकर्षण उसकी विकृति का कारण बना जिसके मनोवैज्ञानिक पक्ष को मैंने देव-संस्कृति की आन्तरिक विसंगति से जोड़कर अतिरिक्त अर्थ देने का प्रयत्न किया है। पौराणिक कथा के सूत्रों को नये सिरे से संयोजित करके मैंने अपनी दृष्टि से जयन्त के व्यक्तित्व को सजीव रूप में प्रस्तुत किया है जो युवा मानसिकता की विडम्बना को अपने में समाहित करता है। इसकी ओर प्रारंभ में संकेत किया जा चुका है। 'जयन्त' का व्यक्तित्व अर्थपूर्ण और विश्वसनीय लगे तो मैं अपने श्रम को सार्थक मानूँगा; साथ ही, राम-कथा के प्रवाह को गतिशील बनाने में उसकी उपयोगिता सिद्ध हो तो अपना अहोभाग्य समझूँगा।

पुनश्च-

'राम की शक्ति पूजा', 'तुलसीदास' और 'पंचवटी-प्रसंग' रचने वाले निराला जी ने 'स्फिटिक-शिला' नामक लम्बी कविता के अन्त में 'जयन्त-कथा' का नाटकीय विधि से इस प्रकार उल्लेख किया है। एक सद्यःस्नाता युवती के वक्ष-स्थल को देखकर कवि के मन में सौन्दर्य का उदात्त भाव स्फुरित हुआ और उसे सीता का वक्ष-स्थल स्मरण आ गया, साथ ही जयन्त की चोंच भी जो राम-कथा का अंग बन गयी हैः

वर्तुल उठे हुए उरोजों पर पड़ी थी निगाह
चोंच जैसे जयन्त की, नहीं जैसे कोई चाह
देखने की मुझे और
कैसे भरे दिव्य स्तन हैं वे कितने कठोर।
मेरा मन काँप उठा, याद आयी जानकी।
कहा, तुम राम की,
कैसे दिये हैं दर्शन !

(नये पत्ते, पृ0 60)

नागवासुकी, दारागंज
इलाहाबाद
12.4.91

•

कृति-समर्पण

निराला

निराला के प्रति

उस महाप्राण कवि
को—

जिसने
राम की शक्ति-पूजा लिखकर
यह सिद्ध कर दिया
कि वह मूलतः
कभी आत्महन्ता नहीं हो सकता।

स्वगतों में डूबकर
जिसने मुझमें
अपनी द्रष्टा रूप की चित्र-प्रेरणा दी,

अन्तिम क्षणों में
स्थिर होती हुई उसी की
विशाल आँखों की स्मृति के साथ,
यह कृति
'जयन्त'

युवा वर्ष में
सप्रणाम
समर्पित

पृष्ठ संख्या (1)

•

मंगल-छंद

कवि-कर्मी हो,
स्वयं लेखनी—
ऐसा कुछ
लिख जाये।

गंगा-यमुना में,
सरस्वती की धारा

दिख जाये।

मर्त्य-लोक में
अमृत-कलश
जड़ता में—
दे जीवन भर।

अशिव रूप हो
शिवता-पूरित,
शिवता हो
सुन्दरतर।

•

लीला-पथ

लीला में लय रही, राम की,
सीता की, जयन्त की करनी।
हुई सम्मिलित परम्परा में,
वाल्मीकि-तुलसी ने बरनी।

मैंने भी अपने शब्दों को
किया राम-धारा में अर्पित।

और राम-धारा भी, अभिनव
होकर जो शम्बूक समर्थित।

यह जयन्त, यह राम और
यह सीता-लक्ष्मण ।
कुंभकर्ण-घननाद-विभीषण
अथवा रावण।।
वानर भी, भालु भी और
पक्षी भी, पशु भी ।
शुभा वनस्पतियाँ अमृतमय,
विषमय अ-शुभी ।

कहाँ अवतरण संभव
मानव के विकास में।
उर्ध्वमुखी चेतना कर्ममय हो
प्रवास में।
मानव-गरिमा में लीला
अन्तर्हित सारी।
भक्ति शक्ति-मय हो जाये
मानव-अनुसारी।
व्यक्ति-समाज अलग होते कब
कब वे घुलमिल जाते।
अनुभव ही सन्मार्ग,
श्रेय देकर हम सब कुछ पाते।

श्रेय-प्रेय में कौन अधिक है,
वधिक बने तब जाने।
जीवन का ही सत्य बहुत है,
जो उसको पहचाने।
जीवन हो या काव्य
धर्म हो या हो सत्ता।
प्रियता में ही व्यक्ति-व्यक्ति की
सहज महत्ता।
यश से प्रियता मुझे अधिक है
यश-अपयश जग जाने।

अप्रियता का दंश भोगता मन,
जाने-अनजाने।
अपनी सीमा स्वयं जानता,
नहीं कहीं कुछ भ्रम है।
प्रियता मुझको मिले
उसी से सार्थक मेरा श्रम है।

हर इतिहास मनुज में आकर निज को सार्थक करता।
पृथ्वी-अन्तरिक्ष सब मानव-मन की ही सुन्दरता ।
हर प्रतीक की कथा, मनुज की व्यथा सहे जाती है।
वेद-पुराण-शास्त्र, सद्ग्रंथित, धार बहे जाती है।
सब मनुष्य को अर्थ-पूर्ण मानते अभी तक।

वह अनन्त, वह सान्त, द्विविध जानते अभी तक।
उसकी सहज-बुद्धि, रचना में हो प्रवृत्त जो करती।
यह धरती को वैभव देती, गरिमा-महिमा भरती।
किन्तु सृजन ही मानव का अभिशाप बने क्यों।
अणु-शर तृण-शर हो, उसकी गति पाप बने क्यों।
यह जयन्त भी मानवता का एक रूप है।
नारद-मन भी करुणा का जीवित स्वरूप है।
राम और सीता नर-नारी की अन्तर्छवि।
उनका वर्णन करे प्रकट कैसे भाषा-कवि।

पृष्ठ संख्या (6)

नये अर्थ भरना कवि का सत्कर्म निरन्तर।
सहृदय-स्वीकृति, मन से मन का मिटता अन्तर।
और सहृदयों में संलक्षित होती, मानवता को।
मैं अर्पित करता यह रचना, संस्कृति को, नवता को।

शून्य में फैली हुई जड़ कालिमा से
कहा किसने माँ:
दुधमुँहा ? शिशु
सितारे सा कौन टूटा
जिन्दगी के तप्त तीखे अनुभवों के बीच
छटपटाते दर्द से किसने पुकारा।

अँधेरे की रिक्त छाती में
उतर आया
दूध सा वात्सल्य।

पृष्ठ संख्या (7)

•

अभिज्ञात जयन्त

वाल्मीकि ने
कही कथा जैसी जयन्त की,
स्वयं सुनायी,
वैदेही के मुख से जैसे—
रामदूत को।
कहनी-अनकहनी
सब कुछ कह डाली,

वर्जित काम-क्रिया ने।
अभिज्ञान के लिए,
विवश हो, राम-प्रिया ने।
हृदयों का संदेश कवि कहे,
दास्य-भाव की हुई परीक्षा;
राम-प्रेम था गूढ़,
मिली सीता से दीक्षा।
कविता से भी कोमलतर हो—
जन-कल्याणी;
मुझको प्रेरित करे आदि कवि की
वर वाणी।

अति विचित्र था
चित्रकूट वह,
जहाँ राम-सीता का जीवन
बन की सुषमा बना,
चिरन्तन !
कभी राम का अंक मिला
सीता के मुख को
कभी मिला वैदेही का उत्संग
संग-सुख पाते दुख को।
यज्ञ-अन्न चुगता बलि-भोगी
इन्द्र-पुत्र मांसलता-लोभी
क्रूर-कर्म, नारी-शरीर पर
बार-बार आघात कर रहा।
नहीं आत्मबल संचित किंचित,
अपने से ही स्वयं डर रहा।

वायस-तुण्ड प्रचण्ड
घात वक्षस्थल सहता।
लोष्ठ-निबारित कब होता है पाप,
यही सीता से कहता।

शिथिल हो रही रशना, कसना भूली
निर्वसना की लज्जा।

राम विहुँसते, सीता क्रोधित,
वीर-वेश, क्या अद्‌भुत सज्जा !

क्रोधानल से जलती सीता,
श्रान्त शिथिल हो राम-अंक में।
कुछ सान्त्वना प्राप्त कर लेती
लय जयन्त कुत्सा-कलंक में।

पक्षी दुस्साहसी, मांस-भोगी,
पीड़ित हो रोती सीता।
कुछ-कुछ जागा क्रोध राम में।
देख दुखी नारी भयभीता।

एक दूसरे की पीड़ा को
निद्रालस हो समझ सके क्या ।
दो के बीच तीसरा क्यों हो,
दोनों के मन थके-थके क्या।

जैसे ही जागा अन्तर्मन,
पुनः काक आघात कर गया।
देखी स्वयं राम ने कुत्सा
मन के भीतर क्रोध भर गया।

पृष्ठ संख्या (10)

उर विदीर्ण कर देता फिर-फिर,
पंजों से भी रक्त टपकता।
सीता की आँखें भयकातर,
शंकित काक मलिनता तकता।

लक्षित किया राम ने,
मर्माहत सीता भी थी उपलक्षण।
एक आततायी से निज भार्या का,
कैसे कर पाते हैं रक्षण तत्क्षण।

पंच-वक्त्र विषधर से लगते राम
क्रुद्ध फूत्कार भयंकर !

शुण्ड-जंघ सीता-क्षत-विक्षत
अर्जित रुधिर-धार प्रलयंकर।

दर्भासन हो गया शरासन
खींच लिया तृण-शर उल्कामय।
सूर्य-शक्ति से अभिमन्त्रित कर,
छोड़ दिया ब्रह्मास्त्र महाभय।

राम-रोष प्रज्वलित दिशाएँ
सीता क्रोधित, काल-निशाएँ।
दोनों की युगपत् प्रतिक्रिया,
ज्वालामुखी भभकते जाएँ।

पृष्ठ संख्या (11)

साँस छोड़कर भागा वायस,
शक्र-पुत्र चक्रित विविधा गति।
नहीं किसी ने कहीं शरण दी
त्राण-काम फिरता था दुर्मति।

जिसका उसको अहंकार था
पितु ने क्या रक्षा कर पायी।
तीनों लोक नाप कर आया
अपनी ही करनी भर पायी।

महात्रास का अनुभव लेकर
लौटी विवर्णता अंगो पर।
जहाँ राम बैठे सीता-सह
गिरा निःश्वसित भूपर आकर।

भले रहा हो दर्भ प्रज्वलित,
था अमोघ ब्रह्मास्त्र मन्त्रमय।
दक्षिण नेत्र समर्पित करके,
इन्द्रज वायस हुआ मुक्त-भय।

देख लिया बल, राम-रूप में केन्द्रित
नैतिकता का सम्बल।
पहुँचा स्वर्ण, काम तनु छोड़ा,

राम-कृपा से होकर उज्ज्वल।

पृष्ठ संख्या (12)

इस रचना में
जाने-अनजाने
जो मुझको मिली प्रेरणा

ऐसा लगता,
रही आदि कवि के अन्तर में,
नयी चेतना, नयी एषणा।

पृष्ठ संख्या (13)

•

प्रजापति-मुख से

कहा प्रजापति ने
पुत्रों से,
आत्मा अविनश्वर है।
क्षुधा-पिपासा,
शोक-पाप सब
जरा-मृत्यु नश्वर है।

सत्य-काम जीवन-प्रवाह
सत्संकल्पों से चालित।
देवों की गति-मति हो जाती
असुरों से परिचालित।

बहिर्जगत,
भौतिक-त्रिगुणात्मक,
आत्मा अन्तर्लीन।
किन्तु वही पहचान कराती
अपने से, भय-हीन।

पंचभूत हैं अज्ञ,

ज्ञानमय केवल आत्मा।

अन्तर्बाह्य समस्त
जगद् व्यापी परमात्मा।

नाम-रूप-मय सृष्टि,
ब्रह्म ही अभिनव लीला-धाम।
चिन्तन की गति
सरणि खोजती—
कर्मों में अविराम।

आनन्दोन्मुख जीवन लय-
मय
समताकांक्षी लुब्ध |
क्यों होता दुर्दान्त
विषमता से, विषमय विक्षुब्ध।

संमोहन-क्रम कहाँ टूटता,
कब थक जाती बाँह।
कब मिट जाती
दिवा-स्वप्न सी
इन्द्रधनुष की छाँह।

अमरावती
सोचती रहती,
कब उसका सिंहासन—

हिलने लगे,
जगत-गति बदले—
शेष उलट दे आसन।

फिर कंपित हो उठे धरा
फिर धँसे धराधर सारे।
फिर-फिर वज्रपात हों,
व्याकुल फिरें मरुद्गण हारे।

मानव को
दानव-विरुद्ध कर
देव बनाते साधन।
युगों-युगों तक
विश्वासी मानव-मन
करता रहा,
देव आराधन।

दानव-देव युद्ध !
अतिशय संघर्ष भयंकर।
दोनों मायावी,
दोनों स्वार्थी
प्रलयंकर।

देव अमृत का श्रेय चाहते
रत समुद्र-मंथन में।
दानव भी सहकर्मी बनकर
पड़े नियति-बंधन में।

द्वन्द्व शक्ति से त्रस्त रहा उनका परिकल्पन।
वैर भाव से ग्रस्त रहा उनका संकल्पन।

नहीं याद आया
तब उनको,
मानव भी रहता धरती पर।
है अस्तित्ववान् प्राणी वह
जिसे अभिलषित शान्ति निरन्तर

उसके भीतर भी
मंथन होता रहता है।
पर वह निज सर्वात्म-भाव को—
निश्चय सर्वोपरि कहता है।

यह विष है, यह अमृत-तत्व
उसका विवेक ही साक्षी।
उसका अनुभव सदा द्विधामय,

चकित नेत्र कमलाक्षी।

पृष्ठ संख्या (17)

स्वर्ग-लालसा उसे भ्रमति
अप्सरियों सी नर्तित।
असुरों का भय उसे सालता
प्रतिक्षण प्रत्यावर्तित।

दोनों से
उसकी प्रवृत्ति कुछ भिन्न
समन्वयकारी।
उसकी संस्कृति भूतल-केन्द्रित
अद्वितीय नभचारी !

कब तक पहचानेगा मानव
अपनी संचित शक्ति।
देवासुर संघर्ष न हो,
उसकी अनुरक्ति-विरक्ति।

कभी उसे लगता,
देवासुर—
उसकी ही छायाएँ।
स्रष्टा की भीतर से उपजी,
मनोजात कायाएँ।

दोनों—
जीवन-जल में बिम्बित,

पृष्ठ संख्या (18)

अन्तर्मन,
उनसे प्रतिबिम्बित !

अनुभव कहता,
मानव-मन की
गति अबूझ है।

उसके भीतर—
प्रज्ञालोकित,
        नयी सूझ है।
जो हरबार
        प्रगति-पथ देती।
कल्पान्तर तक,
        इति-अथ देती।

मानव-मन
संकल्प-बीज से—
        चालित होता।
मानव-जीवन
        नियति-कर्म परिचालित होता।

मन से अपनी नियति
        नहीं पहचानी जाती।

पृष्ठ संख्या (19)

है अथाह जल,
        थाह किसी से जानी जाती।
बुद्धि रहस्यों भरी
        खोलती रहती गाँठें।

यन्त्र-मन्त्र तप ध्यान
        योग-लय कितनी साँठें।

एक स्तर पर
जब आ जाते
उन्नत और अनुन्नत ।
करुणा रहित सहित दोनों,
होते आहत-प्रत्याहत।

देव स्वर्ग-रत
असुर रसातल-वासी,
क्यों सन्मति हो।
दोनों करते रहे उपेक्षा

पृथ्वी की, जो गति हो।

धरती से अनुराग जिसे

वह मानव
जन-गण वंद्य।

पृष्ठ संख्या (20)

उसकी ही चेतना कर रही—
शब्द शब्द को छंद्य।

उसका स्वत्व
महत्व उसी का
उसकी ही नव सृष्टि।

नियति उसी की,
वियति* उसी की,
अभिनव जीवन दृष्टि।

*वियति—वियद्व्यापी तारागण गुणित फेनोद्गम रुचिः
—शिव महिम्न-स्तोत्र

पृष्ठ संख्या (21)

•

कवि-शब्द

पूजा का
अधिकार किसे दें।
किसे कहें हम
गर्हित लांक्षित !

यही प्रश्न है, यही प्रश्न है।

कौन पुरस्कृत !
कौन तिरस्कृत !
कौन श्रेष्ठ है !
कौन अवांछित !

यही प्रश्न है, यही प्रश्न है।

एक तत्व
दोनों में पूरित
एक पदार्थ

सभी में भासित !

फिर क्यों द्वैध
हमारे भीतर,
कर देता
सब कुछ आच्छादित !

आत्म दृष्टि
कैसे शरीर को

भिन्न मानती;

बिना देह-द्रव
कैसे अपना रूप जानती !

प्रतिबिम्बित, आभासित
या आरोपित मन पर;
देह भाव कैसे छाया रहता
जीवन पर !

शान्त चित्त हो
यही सोचते
सदय प्रजापति;
देख रहे वे,
अपने दोनों पुत्रों में

निज रूप विभाजित !

देवासुर-वर्गीय
प्रजाओं की संकुल गति।
किन्तु नहीं हो पाती
क्यों दोनों में सन्मति !

पृष्ठ संख्या (23)

असुर आततायी
सुर स्वार्थी,
यह मनुष्य ही है
जो स्वार्थी—
होकर भी, होता
परमार्थी।

उसका मन
उच्चतर भूमिका,
चाह रहा है,
हो जिससे
कल्याण भूमि का।

ऊर्ध्वाकांक्षा
अंकुर में भी
सतत अंकुरित,
फिर मनुष्य
क्यों रहे संकुचित !
उसके मन में
महाकाश संकल्प संजोता।
अल्प रूप होकर भी
उर विस्तारित होता।

पृष्ठ संख्या (24)

हम हैं कौन,
कहाँ से उपजे
प्राणों में उत्कट जिज्ञासा !
खोज रही अस्तित्व निरन्तर

सबके भीतर ज्ञान-पिपासा।

स्वयं प्रजापति नहीं जानते
हमने कैसे सृष्टि रची है;
काक-जयन्त
स्वर्ग में उपजा !
कौन इन्द्र है, कहाँ शची है,

क्या प्रमाण है,
इन्द्र-विरोचन
भिन्न-भिन्न मार्गों से पहुँचे,
उसी सत्य तक !

हम कैसे जाने !
क्या मानें
हम परिसीमित, हम अन्तर्मुख,
और सृष्टि है कितनी व्यापक !

पृष्ठ संख्या (25)

•

इन्द्र-छवि

महातेजस्वी, प्रखर-कर,
बादलों के बीच—
सिंधु उलीच देते।
हर क्षितिज पर—
उषाओं की पंक्तियाँ संभव बनाते,
दृष्टि से सविता—
प्रसविता-वृत्ति।
ग्रीष्म-वर्षा-शरद-मधु की
निरन्तर आवृत्ति !
मरुद्गण खिंचकर चले आते
जानते जब, स्फीत-रंध्री
श्वास लेते इन्द्र।

सिहर उठती रोदसी,
जब पर्वतों पर
तीव्र वज्राघात होता,
और उनके वन-विनिर्मित पंख,
गिरकर छटपटाते देर तक
चिंघाड़ती, आकुल दिशाओं में।

इन्द्र

पृष्ठ संख्या (26)

सूक्ष्म मन से द्रुत गगन तक—
जहाँ होता विपुल कोलाहल,
नभ-निलय में—

या हृदय में,
ध्यान से उच्चैश्रवा सुनता।

इन्द्र-इन्द्राणी नयन के देवता हैं,
आँख भर जिसको निहारा
हो गया ऐश्वर्यशाली !
समद ऐरावत जिधर चलता,
योजनों तक गंध भर जाती।
बैठती गण्डस्थलों पर, हठ-कठिन भ्रमरावली,
शूर्प-कणों को हिलाकर जिसे वारण—
कर नहीं पाता निवारण,
शुण्ड-रंध्रों छोड़ने लगता फुहारें
हिम-अमृत मय !

लिये अपना श्वेत हाथी इन्द्र
स्वर्ग से पाताल तक फिरते,
बदलों को चीर कर—

जिस पर कृपा करते,
स्वर्ण-अंकुश से बरसता धन;

पृष्ठ संख्या (27)

बार-बार असंख्य मुद्राएँ चमक कर
तैर जातीं कल्पना में,
प्रकट होतीं जल्पना में,
या कि उज्जवल अल्पना में ।

पृष्ठ संख्या (28)

शची

इन्द्र-पथ

कामधेनु-परम्परा में,
सुरभि-माता ने जिसे अपने पयोधर
सोम से भर कर पिलाए
इन्द्र ने जाना नहीं अब तक ।
स्वाद पहचाना नहीं अब तक,
वक्ष से बहते किसी भी दूध का !
जानते हैं सब कथाएँ स्वर्गवासी,
अग्नि-पूषा हैं सहोदर।
जन्म से ही प्रज्वलित जठराग्नि
लीलती जाती सरोवर।
उदर में झीलें समाती रहीं, अहरह !
सोमरस की धार, भर जाती उन्हें
        जब रिक्त होती;
शंख जैसा कंठ बजता स्वयं बारम्बार !

पारिजाती गौर तन,
कुछ धवल, कुछ अरुणाभ, सुन्दर
शची-मन पर

रहे छाये अधर वक्री,
        जानता है इन्द्र शिप्री !
हरित वर्णी वेश,
लहराते चतुर्दिक !
स्वर्ण-रथ पर
दीप्ति उज्जवल वेश
युद्ध की हर श्वास
देती विजय का संदेश।

निरन्तर उच्छ्वसित होतीं कामनाएँ,
शिराओं में फूटता रहता पराक्रम ।

वृत्र, त्वष्टा, नमुचि शंबर

बलि, विरोचन, वाण, असिधर
नये निर्मित आयुधों से

सतत सज्जित !

बार बार परास्त होते,
किन्तु होते कहाँ लज्जित ।
व्यूह रचते, दृढ़ जटिलतर,
किन्तु डरते,
इन्द्र के आगे समर में
नहीं आते सामने वे।
सब कपट-छल

पृष्ठ संख्या (30)

समझ लेते इन्द्र,
उनसे अधिक तन्त्री,
इन्द्रजाली,
भाग्यशाली।

पृष्ठ संख्या (31)

•

इन्द्र-गीत (1)

हुआ असुरों का विपक्षी इन्द्र,
था कभी उनका समक्षी इन्द्र।
कलाओं में जब हुआ निष्णात,
हो गया गंधर्व पक्षी इन्द्र।

वृत्र-वध का विरुद सर्वोपरि कहाया
लगे सातों सिंधु बहने
मुक्त हो सब धेनुएँ
पथ पर रँभाती चल पड़ीं

वज्र तक्षी इन्द्र।

कौन समता करे उनकी—
कर्म में, अपकर्म में, सत्कर्म में।
द्यौस जैसे कीर्तिशाली
निज पिता को
पद्दलित कर दिया जिसने !
हड्डियों पर चढ़ी जिसकी वृद्ध काया,
कौन सा अपराध उसने किया होगा,
हो गया म्रियमाण।

और अपने श्वसुर को भी,
शची की भावी प्रगति में देख बाधक
कठिन जबड़ों से चबाकर,
कर दिया निष्प्राण ।
शक्तिशाली, वीर्यकामी, धैर्य खोकर
उस समय वह थे नितान्त,
पुलोमजा के लोभ में पागल !
चारु-चक्षी इन्द्र !
दानु के सोते हुए सुत को
निष्करुण हो मार डाला

कौन जाने किस तरह, किस भाव से—
यज्ञ-दक्षी इन्द्र ।

मकरकेतन निज सखा के—

शत्रु शंबर को,
शिखर से नीचे गिराया,
कर दिया निस्पंद,
काम-कक्षी इन्द्र।

वृषभ हो
या वन-महिष हो,
हो रहे आखेट कितने

और कितने बने बलि-पशु,
कहाँ गणना की किसी ने !

घ्राण-संचित
प्राण-वंचित
हुए यज्ञों में समर्पित।
दानवी उसकी बुभुक्षा—
        मांस-भक्षी इन्द्र !

ब्रह्म शर से त्रस्त
कंपित-गात पुत्र जयन्त आया,
राम से भयभीत
कातर शरण लेने
निज पिता के पास;
अन्ततः वे
हो सके क्या
        प्राण-रक्षी इन्द्र !
सत्य त्रिभुवन में समाया
        स्वार्थ-लक्षी इन्द्र !
        स्वार्थ-लक्षी इन्द्र !!
        स्वार्थ-लक्षी इन्द्र !!!

•

अमरावती

कल्पवृक्ष का देश,
यही है—
आकांक्षा का राज्य !
कौन इन्द्र !
कब बना !
शची की इच्छा का साम्राज्य !

देवलोक की परम्परा है,
नारी का वर्चस्व !
उसकी इच्छा-आकांक्षा का,
नर से अधिक महत्व।

नारी के मन में
नर का आकर्षण
        जब तक शेष।
इन्द्रासन है वही,
वही सत्ता का स्वर्णिम देश ।

गहरे अर्थो में
सत्ता का सुख,

        परवशता-जन्य।
नहीं चाहता त्याग,
        विवश कर देता—
                कोई अन्य।

शची
कामना की सत्ता को,
कब समेट पाती है।
अन्य-अन्य की तृषा,
इन्द्र-पद क्षणिक
        बना जाती है।

अन्य-अन्य—
हर जगह,
अन्य से मुक्ति नहीं प्राणी की।
आत्म-भाव से रहित,
कहाँ परितोष !
        —नियति वाणी की ।

सब कुछ है अनन्त,
इच्छाएँ भी—
        अनन्त होती हैं।

पृष्ठ संख्या (36)

देश-काल की सीमाओं में—
पिसकर,

—सब रोती हैं।

देश-काल से युक्त चेतना,
मनस्तत्व साक्षी है।

आरोहण के—
सोपानों पर,
बिम्बित कमलाक्षी है।

अपनी सत्ता—
स्वयं प्रमाणित,
नहीं पराश्रित प्रत्यय।
उसी सत्य से
सब कुछ भासित—
बाहर-भीतर, निश्चय।

बहिरन्तर का भेद,
व्यक्ति की सीमा का—
द्योतक है।
पर असीम अनुभव,
अभिन्नता का ही—
उद्घोषक है।

पृष्ठ संख्या (37)

अनुभव के भीतर अनुभव
अनुभव के ऊपर अनुभव
अनुभव की शृंखला अपरिमित।
रचती छवियाँ अभिनव !

रचना-क्रम में

स्वयं विसर्जित,
—निजात अर्जित होती।
पानी की छाया रचती,
—सीपी के भीतर मोती।

भीतर-बाहर एक दीप्ति
सागर-जल—
दूर-समीपी |
सुन्दरता
—मन का रहस्य,
पानी में ढलती सीपी !

देव-तत्व,
—माटी के मन में
दीपशिखा की आभा।

पृष्ठ संख्या (38)

स्वयं प्रज्वलित,
स्वयं विसर्जित
सृष्टि-प्रलय की आभा !

मानव के प्रयत्न का साक्षी,
स्नेह-वर्ति-संयोजन।
पर प्राणी में दीप्तमान
जीवन-धारा संपुजन।

धार-हीन जीवन,
क्या जीवन?
वह भी रहे उपेक्षित !
जीवन को
जो स्नेह बना दे,
वही स्व-भाव अपेक्षित।

सप्त धातुएँ त्रिधा विभाजित,
पंचतत्व चिर मृण्मय !
पर उसमें आलोक-मुखी—

उठती तरंग-गति, लय-मय।

पृष्ठ संख्या (39)

उर्ध्व-चेतना,
स्वर्ग-कामना,
मन की ही संगति है।
किन्तु मनुज की रचना—
माटी में विकास की गति है
माटी से ही
दीप विनिर्मित
माटी से
अमृत-घट।
स्नेह-तन्तुओं—
अमृत-बिन्दुओं—
निर्मित यह, जीवन-पट।

जो विकास है—
वही अवतरण,
दृष्टि मात्र का अन्तर ।
सृष्टि-प्रलय
उत्थान-पतन
अनुभव जीवन्त निरन्तर।

यन्त्र-यन्त्रणा,
मन्त्र-मन्त्रणा,
मानव की भावी गति !

पृष्ठ संख्या (40)

अन्तरिक्ष की ओर प्रधावित,
पक्ष-संचालित संस्कृति।
वैभव की भूखी पृथ्वी,
सहती है स्वर्ग-पिपासा !
दोनों की व्याकुलता,
देती दिल को कहाँ दिलासा !

कुछ अभाव
रहता है प्रति-क्षण,
प्रति-कण जलती ज्वाला !
कुछ स्वभाव
मन से भी दुर्गम,
तन में किसने ढाला ?

ऐसा कोऊ ना मिला, जासों रहियौ लागि।
सब जग जलता देखिया, अपनी-अपनी आगि।।

कबीर—

सुन्दर और असुन्दर झलमल
तल परा-पारा सा
दोनों का अनुभव करता मन,
जीवन जल-धारा सा।

पृष्ठ संख्या (41)

देव-नदी
पृथ्वी पर आकर
बनी रसातल-गामी।
स्वर्गाकांक्षा
पुनः जागती,
गतिमय अन्तर्यामी !

एक लयान्विति
तीनों का
करती रहती अनुशासन।
कभी उसे
बलि की गति मिलती,
कभी प्राप्त इन्द्रासन।

मानव-मन वैष्णावता पाकर,
वामन से विराट बन जाता।
कभी नरक-यातना भोगता,
और कभी नरकासुर-त्राता।

स्वर्ग जहाँ भी हो,
जैसा भी हो,
आकर्षण बनता।

पृष्ठ संख्या (42)

पृथ्वी की अदम्य अभिलाषा—
बनकर, जीती जनता।

अपर्याप्त है,
जो कुछ भी—
धरती में उपजा-विकसा।
उसकी सीमा—
स्वर्ग बनाता,
महत्, असीम, अधिक-सा।

मृत्यु, जरा,
रुज का भय कैसा
स्वर्ग कल्पना-लोक !
अव्याहत सुख
वैभव अतुलित,
लास-विलास, शोक।
इन्द्र इन्द्रियों को गति देता
शक्ति अपार अजेय।
मनसिज सहचर,
नव वसंत-श्री—
सब अधिकार अदेय।

पृष्ठ संख्या (43)

पर जाने क्यों
मन में ईर्ष्या,
भय, सन्त्रास, निरन्तर।
शंकित, द्विधा-ग्रस्त दैवी मन,
मानव से क्या अन्तर।

देव-सृष्टि की

यह बिडम्बना,
किसका मन,
कब भरती।
सुख की सीमाओं को
जैसे और उजागर करती।

स्वाभिमान रखकर
अभाव में—
जितना कुछ सहलें, कम।
नहीं मनुज से श्रेष्ठ देवता;
चाहे जो कहलें हम।

संतति की कामना—
स्वर्ग को,
धरती पर लाती है।

पृष्ठ संख्या (44)

शची-इन्द्र की
जीवन-चर्या
नया अर्थ पाती है।

कल्पवृक्ष की शक्ति बन रहा,
कल्पलता का बन्धन !
पारिजात की गंध,
रूपसी की सुस्मिति का अंकन।
रेखाओं में रूप उतरता
धरती की भाषा में।
स्वर्ग-मर्त्य
दोनों जीवित हैं,
मन की परिभाषा में।

शची कहाँ उपजी
कब उसको रूप मिला संसृति में।
कब आकर्षित हुई प्रकृति,
कब उतरी विधि की कृति में ।

आँखों में बस रही इन्द्र-छवि
नित्य शची के मन में।

पृष्ठ संख्या (45)

जब जो नर
चरितार्थ कर सके,
वही बन्धु जीवन में

कब तक रहती टिकी वासना,
कब तक फलती आशा ?
किसको मिलता अचल इन्द्र-पद ?
गूढ़ शची की भाषा !

जहाँ शौर्य-सौन्दर्य
मान ले वहीं पराजय।
स्वर्ग लक्ष्य हो,
उसी पितृहन्ता से परिणय

वंश-घात
यश-वैभव कारक
जहाँ कहीं हो।
लगता—
नारी-रूप बनाकर,
        शची वहीं हो।

वधिक पिता का !
क्यों पुलोमजा को

पृष्ठ संख्या (46)

        वह इन्द्र सुखद हो !
देवासुर संघर्ष—
शची-नयनों में
        नीर दुखद हो।
नारी-मन की गति,
नारी भी जान न पाती।
कवि कैसे-क्या कहे,

अचिर वाणी की थाती।

नर है साधन मात्र
इन्द्र-पद प्राप्ति
        नित्य सम्मोहन।
यही शची की
अभिलाषा का सार
        यही संदोहन।
असुरों के संस्कार
सुरों के जीवन में
        प्रतिबिम्बित !
जब से शची
स्वर्ग में आयी
        पृथ्वी हुई विखंडित |

पृष्ठ संख्या (47)

आखंडल की सत्ता
खंडित हो
यह बात असंभव !
पर सत्ता-संघर्ष
असंभव को
कर देता संभव।

पृष्ठ संख्या (48)

•

परिणय-गीत(1)

वह रात अमर |
आलोक-तरल नभ,
रश्मि-खचित लहराता वासव का

दुकूल।

छितरे तारक,
अधखुली शची की वेणी के
अधखिले फूल।
छवि-सघन कुंज,
भोले-भाले तरु खड़े स्वर्ग के प्रहरी से।

ऐरावत के कानों जैसे,
हिलते कदली के पात अमर।
वह रात अमर।

तम की अलकों को बिखरा कर
बह चली
भुरहरे की बतास,

पृष्ठ संख्या (49)

निशि के अधरों पर
उतर रहा
अधजगे प्रात का सहज हास।

मुँद जाते दोनों दृग
अनन्त सपनों का सौरभ-भार लिये।
आभा की किरनों से
छूकर
खिलते सुधि के जलजात अमर।
वह रात अमर ।

(2)

यह चंदन सा चाँद महकता, यह चाँदी सी रात ।
क्यों नयनों से रूप कह रहा, सुनों हमारी बात ।
झुकते पलक कि दूर क्षितिज तक छा जाता तम-तोम।
खुलते नयन कि फिर आभा से लहरा उठता व्योम।
अधरों पर मुसकान कि पर खोले हंसों की पाँत।
क्यों नयनों से रूप कह रहा, सुनों हमारी बात।

हिलती अलक कि कँप उठती तम के पंथी की राह।
वेणी खुली कि शेफाली की नत डाली की छाँह।
साँसे जातीं भीग कि लाती पुरवाई बरसात।

पृष्ठ संख्या (50)

यह चंदन सा चाँद महकता, यह चाँदी सी रात।
देह लहराती या कि लहर को देता पवन झकोर।
अविरल बोल कि जल में वर्षा की बूँदों का शोर।
शरमीले से गात कि जैसे छुईमुई के पात
सुनो हमारी बात।
यह चाँदी सी रात।

(3)

क्षीर-सागर में नहाकर लौट आयी रात।
दूध से भीगे अभी तक चाँदनी के गात ।
देह से चिपका बरफ सा श्वेत शीत दुकूल,
नखत, वेणी में रहे उलझे जुही के फूल,
बह गये कुछ लहरियों के साथ दूर अकूल,

और यह शशि, भेंट कमला ने किया जलजात।
क्षीर-सागर में नहाकर लौट आयी रात।

ओस, गीलापन बसन का बन रहा ज्यों बूँद,
लग न जाय बयार, द्वार रहीं दिशाएँ मूँद,
चाहतीं किरनें, अभी दें कुन्तलों को गूँद,

काँपता तन, हिल रहा सुकुमार पुरइन के पात ।
क्षीर-सागर में नहाकर लौट आयी रात।

पृष्ठ संख्या (51)

व्योमगंगा की धुली सारी पहन चुपचाप,
कंचुकी में बद्ध यौवन, पुण्य के सँग पाप,
अधर पर स्मिति, रही प्राणों के पुलिन तक व्याप,

गगन के उर में सिमट करती लगन की बात।
क्षीर-सागर में नहाकर लौट आयी रात।

दूध से भीगे अभी तक चाँदनी के गात।

(4)

यह चाँद ज्योति का कमल-फूल।
तारक छितरे किंजल्क जाल,
ज्योत्सना पराग की धवल-धूल।
यह चाँद ज्योति का कमल-फूल।

उर का कलंक काला भँवरा।
कन-कन में अमृत मरंद भरा।
रस की बूँदों में सनी पाँख।
उन्मत मदमाती मूँदी आँख ।

मूर्छित चुम्बन-श्लथ विबुध गात,
बेबस उड़ना तक गया भूल।
यह चाँद ज्योति का कमल-फूल।

पृष्ठ संख्या (52)

नभ-सर में उठती बिभा-लहर।
जाते मुकुलित दल छहर-छहर।
बहता सुगंध मधु-मुग्ध पवन।
खिल उठता निशि का पंकज-वन।

झर झर झर सब दल झरे, धरा—
पहने पँखुरियों का दुकूल।
यह चाँद ज्योति का कमल-फूल।

बल खा जातीं बाँहें-मृणाल ।
तिर-तिर जाते लोचन-मराल ।
बादल, पुरइन के हरित पात ।
कँप-कँप उठते हिम-बिंदु-स्नात।

धड़कन के पाँवों में कोमल,

चुभ-चुभ जाते घन किरन-शूल ।
यह चाँद ज्योति का कमल-फूल ।

(5)

आज गयीं किरनें
पराग की धूल से
नयन स्वप्न-छवि-अंध
—चाँदनी रात में

पृष्ठ संख्या (53)

घूम रहा मन मुग्ध
सुरभि बाँहों भरे
पवन सदृश निर्बन्ध
—चाँदनी रात में
आयी, कुछ चुपचाप—
कान में कह गयी
हरसिंगार की गंध
—चाँदनी रात में ।

(6)

इस समीरन में मिली होगी तुम्हारी साँस भी

उर्मियों का प्यार पाकर झूमने वाले झकोरे
छू रहे होंगे तुम्हारे ज्वारवाही अंग गोरे।
देख शशि को आ रही होगी तुम्हें भी याद मेरी,
चाँदनी फैली हुई होगी तुम्हारे पास भी।
इस समीरन में मिली होगी तुम्हारी साँस भी।

यह रुई के पहल से हलके धवल बादल बिचारे।
जा रहे प्रतिपल तृषाकुल स्वर्ग-सरिता के किनारे।
ये बिरल छिटके नखत, ये दूध छलकाती दिशाएँ,
छा रहा होगा तुम्हें यह स्वप्न सा आकाश भी।
इस समीरन में मिली होगी तुम्हारी साँस भी।

पृष्ठ संख्या (54)

एक सूनापन, पलक के छोर पर दो बूँद जलकन।
हृदय की कातर पुकारें, पीर की लाचार छलकन।
जिस तरह हर दूब की आँखें भरी सी हैं यहाँ,

ठीक वैसे ही सजल होगी वहाँ की घास भी।
इस समीरन में मिली होगी तुम्हारी साँस भी।

(7)

यह रुपहली छाँहवाली बेल ।
कसमसाते पाश में बाँधे हुए आकाश
तिमिर-तरु की स्याह शाखों पर खिले,
नखत-कुसुमों से रही है खेल।
यह रुपहली छाँह वाली बेल।

रश्मियों के वे सुकोमल तार,
लहराता गगन से भूमि तक
जिनके रजत-आलोक का विस्तार,
उलझे रात के हर पात से सुकुमार।

इस धवल आकाश-लतिका में,
झूलता सोलह पँखुरियों का अमृतमय फूल,
गंध से जिसकी दिशाएँ अंध,
खोजती फिरतीं अजाने मूल से सम्बन्ध।

पृष्ठ संख्या (55)

वल्लरी निर्मूल—
फिर भी विकसता है फूल !

है रहस्य भरा हृदय से हर हृदय का मेल।
हर जगह छायी हुई है,
यह रूपहली छाँहवाली बेल।

पृष्ठ संख्या (56)

•

शचीन्द्र-सम्बन्ध

शची बनी इन्द्राणी कैसे,

इन्द्र हृदयजेता है !
सन्तापी स्वभाव,
नर को—
नारकी बना देता है !

क्या देखा उसमें
नारी-मन ने,
या नारी-मति ने।
साधन बनना
कैसे स्वीकृत किया
इन्द्र से पति ने !

नारी-शक्ति
पुरुष को मिलती
या नर-शक्ति नारी को,
यह संतुलन
किधर ले जाये
अस्थिर तुला-तरी को !

पृष्ठ संख्या (57)

पुरुष-प्रधान समाज
सहेगा कब तक नारी-गरिमा।
बनी रहेगी कब तक उसकी
जन-गण-मन में महिमा !

पद-विन्यास
पदाधिकार सा
नियति-नटी को,
इन्द्र रहे अस्थिर,
सुस्थिरता मिले
शची को !

अस्थिरता वरदान,
शाप हो स्थिरता जी को।
इसमें समाधान क्या मिलता
इन्द्र-शची को ?
अस्थिर क्या, स्थिर क्या,
मन कुछ जान सका क्या ?

गति-यति, यति-गति,
नर्तन-लय पहचान सका क्या ?

मन चंचल
अधिकार अचल

पृष्ठ संख्या (58)

ऐसी कल्पना अपरिचित।
साधन ज्ञान,
तपस्या को
इसकी जल्पना सुपरिचित।

हर स्तर पर है
यही समस्या
यही प्रश्न
चिर-शाश्स्वत।
समाधान-उत्तर क्षण-भंगुर
यही ज्ञान सारस्वत !

जीवन का प्रवाह अविनश्वर
सचल-अचल दोनों ही।
अस्ति-अचलता—
व्यस्ति-विचलता—
अनुभव होते यों ही।

इन्द्र आत्म-कामी,
आत्मा से अधिक,
काम-दर्शी है।
शची स्वर्ग की नियति,
वासनामयता संस्पर्शी है।

पृष्ठ संख्या (59)

जन्म-मृत्यु से रहित
स्वर्ग-सुख
यौवन-धन तक सीमित।
किन्तु आत्म-सुख

अनुभव-केन्द्रित,
भव-विस्तार असीमित।

मैं पृथ्वी को नमन कर रहा है।
स्वर्गिकता पर वमन कर रहा।
मन में युग्म-भाव अपनाकर,
चंचल मन का शमन कर रहा।

सभी देवता
सहज कामनाओं में जीते।
भ्रमर-भाव से
मधुरस पीते, मधुरस जीते।
नहीं नीति से वे अनुशासित,
नीति स्वयं ही रही सतत
उनकी वशवर्ती।

आज देव-साम्राक्षी मैं हूँ;
कौन करेगा

मुझको अनुशासित करने की
कष्ट-कल्पना।

प्रीति-निरन्तरता में उपजा,
इन्द्रदेव से मेरा परिणय
भग्न हुआ वह
जब मुझ पर
आरोप लगाने लगे
    स्वयं वे,
होकर लांक्षित
देव-सृष्टि में
बिना प्रीति-सम्बन्ध
    सभी कुछ रहा अवांछित।
काम कामना-जन्य देवता
और हृदय में उपजी
रति ही उसकी भार्या

त्रिभुवन-वंदित, कविगण-छंदित
वह देवी है दाक्षायनी
नहीं अनार्या।
मैं उसके प्रति हो आकर्षित
वैभव-बोझिल स्वर्ग आ गयी।

पृष्ठ संख्या (61)

देवराज ने दिव्य प्रलोभन दिये यहाँ तक,
मैं उनके प्रति हुई समुत्सुक
सौरभ पूरित कल्पलता सी,
स्वर्ण भूमि ही मुझे भा गयी
उनके मन के कल्पवृक्ष पर
धीरे-धीरे स्वयं छा गयी।

वंशजात संस्कारों में रह,
छल-बल-मिश्रित
असुर-विवाहों से परिचित थी,
मानव-उद्वाहों का भी
कुछ मुझे ज्ञान था,
पर मेरा मन—
देवों-गंधर्वों में प्रचलित
गान-कलामय, जीवन-प्रेरित,
प्रीति-रीति से था आकर्षित,
नहीं कहीं भी वहाँ विवशता,
नहीं कहीं भी कोई करता—
आरोपित सम्बन्ध किसी विधि।
क्या कोई कर सकता था,
उस भाँति कल्पना—

पृष्ठ संख्या (62)

मेरे कुल में,
असुरों में तो
नर-नारी-परिणय प्रसंग में,
राज-समाज-समर्थन ही था—
निर्णय कारक ।
निंदा के भाजन बनते थे,

देव और गंधर्व निरन्तर।
पर जाने क्यों—
मेरे मन पर
पैतृक अत्याचारों उपजी
उस कुंठा की छाप घनी थी।
मात्र समर्थन, मात्र अनुसरण,
मैं क्या उसके लिए बनी थी ?
मुझमें था विद्रोह समाया,
मैं वैकुंठ-भाव रखती थी,
जो उपेन्द्र से जुड़ा हुआ था—
सबको सुखकर, सबको प्रेरक |
तभी अचानक
सुना इन्द्र का नाम
रूप भी देखा मनहर
तत्क्षण संभ्रम हुआ

मुझे भी कामदेव का।
उनका पंचवाण-सा
सैनिक-वेश देखकर।

उनकी वाणी !
उनकी भूषा !
अधरों पर—
संचित प्रत्यूषा !

मैं,
मन ही मन
हुई समर्पित
कितने कोमल !
कितने गर्वित !
वे कंदर्प—
दर्प से दर्पित !

विकट युद्ध में
हुए इन्द्र द्वारा—
पुलोम हत ;

पितृ-घात भी मुझे—
सहन हो गया अन्ततः
भूल गये देवता प्रमद हो क्रूर कर्म वह।

पृष्ठ संख्या (64)

सबने माना देवराज उनको
वे होते गये यशस्वी।
मैंने उनको साथ दिया था,
मैं ही उनकी बनी प्रेरणा !
सब कहते हैं—
मैंने उनको वरा,
स्वयंवर की नूतन विधि
    पपूजी मुझसे।
सब कहते हैं—
जो भी बाधा बना
पुरन्दर के वाणों ने
उसे सुलाया युद्ध-भूमि में।

देखा,
कितने सहज भाव से—
मरुतों ने उनका यश छाया,
जहाँ कहीं भी छिद्र मिला
वंशों के भीतर
वहीं-वहीं वंशी बन जाती,
वह भी उनका सुयश सुनाती

नन्दन-वन
या वन-अशोक में

पृष्ठ संख्या (65)

यज्ञ-पुरुष वे
मात्र प्रेरणा देते रहते
अब भी उनका कीर्तिमान
होता रहता है—
लोक-लोक में ।

वृत्र-युद्ध में होकर विजयी
जब आये वे—
आँखों की बन्दनवारों ने
मनो जगत में बनते
नव तोरण-द्वारों ने
उनका स्वागत किया
इन्द्रजालों की रचना
हुई उसी क्षण !
जिसका जैसा भाव
मिले वे उससे वैसे।
मूक हो गयी गिरा
करे कवि वर्णन कैसे !

किन्तु अयश भी उन्हें बदा था
लगी ब्रह्महत्या उनको भी

यद्यपि वे तो देवराज थे
ब्राह्मण-वंदित।
किया उन्होंने उस हत्या को
क्यों अंगीकृत।

ब्राह्मण-माहिम हुई—
स्वर्ग में भी संस्थापित।
वही सुधर्मा सभा
काँप उठती जो
इन्द्रागम सुनने पर;
आज मौन है।

मेरे कारण ही उनमें
संक्षोभ व्याप्त है।
देवों-गंधर्वो की सन्मति
लगी टूटने,
राजनीति ने करवट ले ली
स्वर्ग लोक में ।
गंधर्वों ने लिया पक्ष मेरा सशक्त हो,
किन्तु देव-गण रहे विभाजित।

पृष्ठ संख्या (67)

देव-वधू बन कर
कैसी अपशकुनी आयी।
पितृघात करती
अपने ही असुर-वंश में
उसे देवराज्ञी का पद
क्या मिलना संभव
यही प्रश्न था।

और तभी से हुआ विभाजन
उनके भीतर।
अब वृत्रासुर के प्रसंग पर
आखण्डल की महिमा
खंडित होने का डर
व्याप्त हो गया
स्वर्ग-निलय में,
और हो उठी शंका जय में।

जिस पर वे शासन करते थे
वही सुधर्मा सभा हुई उनके विरुद्ध थी।
ब्राह्मण-भय ने उसे ग्रह लिया
हुए पदच्युत देवराज की

पृष्ठ संख्या (68)

और अन्ततः मान लिया सबने
उनका निष्कासन संगत।

असुर-ब्राह्मणों की महिमा
मघवा के ऊपर हुई प्रतिष्ठित
नये इन्द्र की खोज
लगी होने त्रिभुवन में
मैं साम्राज्ञी थी,
पर मुझसे
कुछ भी पूछा नहीं किसी ने।

पति निर्वासित,
मैं अपमानित।
देख रही मैं मन मसोस कर,
अब इनका वीरत्व उतरता
कन्याओं पर, ऋषिकाओं पर।
मानव-वंदित
सती-धर्म खंडित करने में,
महा पराक्रम मान रहे वे
जाने किस कुंठा से व्याकुल
शाप-ग्रस्त पौरुष-हत हो—
        रहते शंकाकुल।

पृष्ठ संख्या (69)

कैसी थी विशाल आँखे—
        शतदल-सहसुदल,
जो भी इक टक उन्हें देखता
उसको लगते सहस्त्राक्ष वे।

मैं भी उनकी आँखों की छवि
        नहीं भूलती
जहाँ रहे वे, दूर-दूर तर
वहीं-वहीं से
शत-शत आँखों,
        मुझे देखते रहे निरन्तर।
ऐसी हीरक आँखों,
अद्‌भुत, उज्जवल, निर्मल,
मैंने देखी नहीं आज तक !

किन्तु आज वे शाप-ग्रस्त हो, ग्लान हो रहे।
अपनी क्रतिपत मनोकामनायें प्रतिबिम्बित
        भग-भूषित भगवान हो रहे।

ऐसा गर्हित रूप इन्द्र का,
        इसी स्वर्ग में
और इन्हीं अपनी आँखों से

मैं देखूँगी।
नहीं सोचती थी
पल भर भी

सहस्त्राक्ष से हुआ विगर्हित विरुपाक्ष वह,
उसे देखकर स्वयं मुझे लज्जा लगती है।
क्या जयन्त से कहूँ
पुत्र वह अब वयस्क है,
क्यों ययाति की तरह
पिता को यौवन देगा।
क्या वह माँगेगे उससे
अवमानी होकर।
अपना हिमगिरि-गर्व छोड़कर
पानी होकर।

•

जयन्त-जन्म

जब भी होता है
जयन्त का जन्म शची से
कल्पवृक्ष की छाया
पड़ती कल्पलता पर
इन्द्र-शची के सम्बन्धों में
विष की विषम स्याह धारा ही
एकान्विति की नींव ढहाती।
विडम्बनाएँ दाम्पत्य की;
कितने दिन टिकने वाली है—
अविश्वास पर।
गौतम की धरनी
मन में,
करनी की अहरह भावी कथा
बताती चलती।
जो होना है गहन निशा में

मायावी व्यक्तित्व
साधता उसी दिशा में

पृष्ठ संख्या (72)

जिस पर मिलती रही अधोगति
देव-वंश की।
केवल उसके भीतर उपजी
पाप-वृत्ति को
सत्ता का सम्बल मिल जाता।
ऋषियों के घर की मर्यादा
खेल समझ कर
देवराज ही स्वयं तोड़ता।
स्नेह-पाश की नहीं
शक्ति वह बाहु-पाश की
आर्थकता, परितोष,
सघनता शीतलता सब
चन्दन बन कर देह दहाती
नारी की अस्मिता
चिता पर बिना मरे भी अनुभव करती
युग-युग व्यापी महामृत्यु का
जीवन को
जड़ता की गति दे
शिला-भाव से अडिग-अचंचल
अथक प्रतीक्षा
फिर से करुण की

पृष्ठ संख्या (73)

ममता की स्वाभिमान की
रघुवंशी गरिमा से वंदित,
काव्य-पुरुष महिमा से छंदित।

शची-स्तन्य अनुरूप,
नम उसका—
जयन्त जय-कामी,
किन्तु पराजित हुआ राम से,
सींक-धनुष-शर-गामी।

गौतम की धरनी पर
जैसे इन्द्र हुआ लोलुप था।
सीता पर वैसे
जयन्त का
प्रतिशोधी मन चुप था।

राम अहल्या-पक्ष-समर्थक
उनसे बैर चलेगा।
पिता हुआ अपमानित
सुत सीता से बदला लेगा।

ऐसी बात—
काव्य में सुन्दर कैसे होगी

मानव मानव सदृश,
नहीं योगी या भोगी।

अहंकार का आत्मज
इन्द्राणी की सीख चलेगा।
तभी इन्द्र जैसा उसको
उत्तराधिकार मिलेगा।

यही सोच—
माता के वक्ष स्थल पर आकर,
टिका दिया सर,
और सो गया—
सपने में, संकल्प
बिछाकर।

महामाता वही
जो देती रही सकरुण हृदय से—
सहज और अजस्त्र वत्सलता।
सभी नर उसके लिए
समभाव से भर जायँ।

पुत्र में, पति में,
अपरिचित व्यक्ति में भी

पृष्ठ संख्या (75)

कहीं कुछ अन्तर नहीं हो,
सभी के आँचल—
अधर-दल-फूल से भर जायँ।
सभी पर अक्षत बरसने लगे
सभी का अभिषेक दूर्वादल करें,
फिर ओस से झर जायँ
किन्तु क्या हम शची को,
सब कुछ समझ लें।
स्वर्ग में क्या वही माता
वही पत्नी
उसी का व्यक्तित्व सबका प्रेय
सबका श्रेय
यदि नहीं तो—
हम करें उसकी प्रतीक्षा;
स्वयं होना चाहती जो,
और जो है आज तक—
अपनी क्रिया में।
कर सकी क्या भेद
पत्नी में, प्रिया में !

माता-बनी महामाता क्या
अपनी बेटे की छवि में,

पृष्ठ संख्या (76)

नव-इन्द्र देखती,
उसके होठों पर
ऊँगली के पोर रेखती।
पाप वृत्ति से
पशुधर्मी हो, या अपकर्मी
भूल गया उसका मन
सब मातृत्व अचानक,

और मात्र नारी बनने की
रही कामना शेष हृदय में—
बाँहों का बंधन
दृढ़ होकर लगा घेरने
        नर-जयन्त को !

वह भी लगा स्वप्न-सुख पाने
नारी का संस्पर्श,
दूसरा अर्थ खोजने लगा विकल हो।
माता को
        नारी से कैसे विलग कर सके
        पशुओं के वाहन पर बैठे दृढतर होते आलिंगन में।
देवराज तक, उसके सुप्त देवता-मन में जाने कैसी आँधी आयी
शिरा-शिरा में लगा छटपटाने इन्द्रिय-द्वार लगे खुलने ज्यों,

कब यह मान-भाव, उग उठा उसके मन में
रहा नोंचता निज केशों को
        जाने कब तक।
जाग गया शैया पर
तत्क्षण, तन्द्रालय में लीन, रहा मन
और पसीने से भीगा तन
यह कैसा दुःस्वप्न
        सत्य या मात्र कल्पना
        हो जिसका गहरा प्रभाव
        वह नहीं जल्पना।
देखा अपने को
माता के वक्ष स्थल पर
उसे बाँध अपनी बाहों में
प्रति अचेत हो
वह सोयी थी
        उसका निर्मल भाव
        झाँकता, मुँदी हुई उसकी विशाल आँखों के भीतर

मैंने वरण किया उसका
        जो शौर्यवान् था।
मैंने वरण किया उसका

जो शीलवान था।

पृष्ठ संख्या (78)

वाणी के संग
सुन्दरता संगति रखती हो —
तन की, मन की,
तभी पुरुष आकर्षक लगता

यही सोच कर
मैंने अपना वंश तज दिया;
पितृ-घात सह लिया।
भेट कर कुल परम्परा।
नहीं जानती थी
आकर इस अमरपुरी में
सत्ता ही सब कुछ
हो जायेगी जीवन में
देवराज भी
मुझसे कट जायेंगे ऐसे,
नहीं कभी था परिचय जैसे।
साम्राज्ञी होकर पिता-निंदा
नहीं करूँगी
वे सम्राट रहेंगे जब तक
मानूँगी उनका शासन, पर—

पृष्ठ संख्या (79)

पहले जैसा—
नहीं रहेगा उनका वह अधिकार
हृदय पर।

अरे, शची के मन में आयी,
सम्राज्ञी होकर पति-निंदा
सुनी इन्द्र ने
उच्चैश्रका बनाकर मन को,
नहीं समय है उनको
सोचे और विचारे
जीवन के गहरे प्रश्नों को।

उसको तो बस—

एक भूख थी
निज सत्ता की।
जिसने मानी नहीं महत्ता,
शत्रु हो गया।

वह विलास-जर्जर था इतना
शची-स्नेह भी
जब जयन्त को लेकर आता
उनकी वत्सलता मिट जाती
मन फिर जाता |

पृष्ठ संख्या (80)

पुत्र पुत्र है—
वह हो गया प्रतिद्वन्दी कैसे
यही सोचती शची
अतल अन्तर में जैसे
इन्द्र-कुलिश का
उत्तर देना होगा उसको
सहज स्नेह से,
मातृ-मेह से,
नन्दन-वन में फैल-फूटकर
इसी स्वर्ग से आगे बढ़कर ।

क्या जयन्त भी
देगा मेरा साथ
पिता के अहंकार को
मर्यादित,
सीमित करने में।

पृष्ठ संख्या (81)

ब्रह्महत्या-प्रसंग

इन्द्र के पीछे पड़ी

जब ब्रह्म-हत्या
वृत्र विजय
त्रिलोक-वंदित कभी मेरा
हो गया अभिशाप।
किसी ने मानी नहीं तो
मान लूँ क्या
निज विजय को
स्वयं गर्हित पाप !
ब्राह्मणों की—
रही सदा विचित्र लीला।
त्रस्त असुरों से स्वयं रहते
किन्तु लड़ने का
कभी साहस नहीं करते।
बन पवंची रहे केवल मन्त्र पढ़ते।
देवताओं को बुलाते
काम सब अपना बनाते।

पृष्ठ संख्या (82)

और फिर वे भी
हमें अभिशाप देते।
यज्ञ-पूजित, लोक वन्दित देवताओं को
स्वयं ही बना देते
मानवों से हीन |
प्रार्थनाएँ स्वयं रचते-सुनाते
मानते मुझको निरन्तर
यज्ञ-पूजित इन्द्र ।

ब्रह्म हत्या
उन्हीं की हत्या मुझे लगती
मान लूँ क्या असुर सारे ब्राह्मणों को
वृत्र के अपकर्म सारे
क्या उन्हीं से थे समर्पित
आदि से ही रहे दुर्बल
भीतमन से।
नहीं तो फिर
ब्रह्म हत्या यह
किसी को क्यों लगेगी।

उचित होता,
वृत्र-वध का श्रेय
मुझको मिला होता

पृष्ठ संख्या (83)

पर मुझे तो ब्रह्म हत्या
का मिला अभिशाप
महा विडम्बना है।
किन्तु सत्ता ब्राह्मणों की
इन्द्र पर भी हुई हावी !
कहूँ इसको कुटिलता
या कहूँ भावी।
हो नहीं सकती
अगर यह समझदारी

वृहस्पति ने भी
उन्हीं का पक्ष लेना
उचित समझा
देवगुरु मैंने बनाया उन्हें
पर वे कर नहीं पाये
सहज स्वीकार
मेरे शक्तिशाली पक्ष को भी।

ब्रह्म हत्या का मुझे डर
उन्हें ब्रह्म-विरोध का डर
एक जैसे शिष्य-गुरु
दोनों महाभयभीत

पृष्ठ संख्या (84)

कौन संस्कृति की करे रक्षा
हो रहा इतिहास मात्र अतीत।

देव-परिषद ने
सुधर्म-सभा में

सबको बुलाकर,

मन्त्रणा की
ब्रह्म हत्या के लिए फिर
व्यवस्था की

वर्ष भर तक
मिले निर्वासन
जहाँ चाहें रहे
केवल छोड़ दें अमरावती को

यन्त्रण की
कहा उसको गया
पश्चाताप !
वृत्र-वध पर कभी मन में
इन्द्र को क्या हुआ
कोई ताप !

पृष्ठ संख्या (85)

या रहा सभा का संताप
जिसको वृहस्पति ने, शची ने
मिलकर बढ़ाया !

नये इन्द्र का आवाहन
हो रहा चतुर्दिक।
कौन काल्पनिक इन्द्र,
कौन-सा इन्द्र वास्तिवक।
पृथ्वी पर है कौन,
इन्द्र पद का अधिकारी
रघुवंशी, धर्मात्म
प्रजावत्सल, संस्कारी।
सबको देखा, नहुषराज को उत्तम पाया।
नदुष इन्द्र बन गये, लगी उनको भी माया।
सत्ता का पद अहंकार से सनते देखा।
मिला देव-पद जिसे, बनते देखा।
स्वर्ग नहीं पर्याप्त नदुष को शची चाहिए।
काल-चक्र में शक्र, मानसर पुनः चाहिए।

देव-सभा को लगा, नदुष हत्या से बढ़कर

हमने क्या कर दिया दोष मधवा पर चढ़कर।

पृष्ठ संख्या (86)

स्वयं बृहस्पति गये इन्द्र तक उन्हें मनाने।
शची, आत्म रक्षा में तत्पर सफल बनाने।
नदुष सप्त-ऋषियों के वाहन पर जब आये।
शची करेगी वरण स्वर्ग सुख उन पर छाये
महा प्रतापी नदुष महापापी बन बैठा।
अहंकार उसके मन में अजगर सा पैठा।
उसने सब ऋषियों को पीड़ित किया अन्ततः
सर्प-सर्प कहकर अजगर हो गया जन्मतः।
गिरा भूमि पर महाकाल के अजगर जैसा।
पतन इन्द्र का कहीं किसी ने देखा ऐसा।
फिर इन्द्रासन मिला शक्र को देव संकुचित।
शची बची क्या रही नदुष से, सुर-गुरु की मति।
यज्ञ कर्म से मुक्त हुआ जब से देवेश्वर।
चढ़ी ब्रह्म हत्या उस पर हो अधिक भयंकर।
मुझको निर्वासन जिस जिसने दिया सभी से।
बदला लूँगा, स्वयं बृहस्पति और शची से।
उनकी रक्षा में रत मैं ही हुआ अरक्षित।
कितनी बिडम्बनाएँ सहता रहा अलक्षित।
लगा मानसर मुझे पापसर, जल भय कारा।

पृष्ठ संख्या (87)

देव सभा ने बना दिया मुझको हत्यारा।
मैं देखूँगा, एक एक को, महाकृतघ्नी ।
उनको कहता कौन देवता, सतत शतघ्नी।

शची, भय की कल्पना से ग्रस्त,
थर-थर काँपती थी।
नदुष से भी अति भयानक इन्द्र होगा
आँकती थी।
क्या पता कब वज्रपाणि दुरन्त होगा
कल बन जाये जगत का, ध्वंस-तत्पर।

पृष्ठ संख्या (88)

जयन्त

शची-मन,
माने न माने
इन्द्र की गति,
इन्द्र जाने।
मैं करूँ क्या

सुरासुर-संघर्ष
मेरी नसों में
अब तक समाया,
सर्प बन कर
लहर लेता
किस तरह
अपना विजेता बनूँ
मैं अभिशप्त
जीवन जी रहा हूँ।
नया पथ ही
अब वरूँ क्या
मैं करूँ क्या

पृष्ठ संख्या (89)

चल पड़ूं क्या मैं।
धरा की ओर
स्वर्ग भी,
पाताल भी,
अब लग रहे मुझको
अवांछित
कर रहे अस्तित्व मेरा,
पाप लगंछित।
स्वयं अपने से डरूँ क्या
मैं करूँ क्या

आज मैं ही जानता हूँ
ताप तेरा

किस तरह
किस जगह
झुलसता रहा
मुझको निरन्तर
तनी रहती हैं शिराएँ
सहूँ कितनी यातनाएँ ।
चटखती हैं हडिड्याँ,
जब टूटती हैं कल्पनाएँ।

पृष्ठ संख्या (90)

स्वप्न मेरे
अरुण-पाटल पँखडियों से
अग्नि-धारा में रहे गिरते,
आँख में फिरते रहे
मन में सुलगते
धुएँ के बादल।
प्रज्ज्वलित तन
प्रज्ज्वलित मन
दृष्टि मेरी, देख, होते—
प्रज्ज्वलित जन।

कर्म या अपकर्म
जिनसे हर्ष होता
पिता को,
पर देखता मैं—
स्वयं अपनी चिता को,
उर में धधकते !
पिता से कैसे बने सम्बन्ध
उनकी निकटता
अभिशाप मुझको बन गयी।
हर समय संदेह

पृष्ठ संख्या (91)

माँ पर और मुझ पर
आत्मा का नाम लेते,
देखते हैं देह !

देवराज नहीं,
मुझें यमराज लगते,
देखते ही
अवांछित संकल्प जगते

खोखली सत्ता सम्हाले
सदा शंकित मन लिए
हर व्यक्ति का उत्कर्ष
लगता है उन्हें अपकर्ष

कितने श्रेष्ठ
और महान्
        मेरे पिता,
अब संसार
उनका यश सुनाता।
किन्तु मैं तो रहा उससे भी अपरिचित
कौन जाने
किस असह आवेश में

नीच ! दुष्ट !! अशिष्ट !!!
सब कुछ कह दिया मुझको
योनि-अंकित शब्द
उनके महामुख को
सदा शेमित करें
        करते रहे निशि-दिन।

इन्द्र हैं वे,
कौन उनकी शक्ति को देगा चुनौती
क्या नहीं मैं ही
क्या नहीं मैं ही
क्या नहीं मैं ही।

पिता-धर्म
पृथ्वी में पूजित
पर अपवर्ग पितृ घाती है !

दिव्य द्यौस हत्या
क्या सुरपति गौरव
कहलाती है।
कब कैसे, क्या हुआ,
निरन्तर सोमपान साक्षी है !
विष्णु उपेन्द्र बने क्यों रहते,
कारण कमलाक्षी है।

पृष्ठ संख्या (93)

दोहरा इन्द्र धनुष
क्यों पड़ता
दोहरी गति का व्यंजक।
सप्त-रश्मियाँ
सप्त स्वर्ग-सोपान सदृश
जन-रंजक।

इन्द्र ध्वज
कब हुआ इन्द्र ध्वज
अतिशय गौरव शाली
मरुत-सहायक
मेघ-समर्थित
वज्रायुध, बलशाली।
किन्तु पुरन्दरता ?
पर्वत-दल-पक्ष-निपात महत्ता।
गर्वी, मायावी, अपकर्मी
तप-बाधक, चल-सत्ता।

पहले सब कुछ लगे अभीप्सित,
फिर अनिष्ट-आशंका !
स्वर्गोपम हर वस्तु
छीनने का क्रम रचती लंका

पृष्ठ संख्या (94)

करुणा-रहित
अमानवीय व्यवहार
यही राक्षसपन

इन्द्रपुरी में छिपे
स्वार्थ-सम्बन्ध
कहाँ अपनापन |
प्रेम-भाव-सम्पूरित अन्तर
        कहाँ क्रूर बर्बरता।
कहाँ विनय-नय-बोध अपरिमित,
        कहाँ मदांध अमरता !

पृथ्वी स्वर्ग
परस्पर पूरक होते
        यदि सद्गति हो।
ईर्ष्या-द्वेष-कलह
दोनों में व्याप्त
        क्यों न दुर्गति हो।
दानव-दानव, देव-देव
        मानव-मानव के बीच।
कभी उठाते, कभी गिराते,
        तन को, मन को, नीच।

पृष्ठ संख्या (95)

आँख फूँटती
दृष्टि डूबती
मृत इतिहास भयंकर
खण्ड-खण्ड
        धरती तल
उच्छल नभ,
        समुद्र प्रलयंकर।

इन्द्र-त्रिरोचन
तत्व खोजते
देह सत्य या आत्मा
अपना अपना
पात्र भर रहे,
जल-दर्पण जीवात्मा

पृथ्वी में जल

जल में नभ,
तन-वायु, अग्नि साक्षी है।
मन के भीतर कमल,
कमल में लक्षित कमलाक्षी है।

पृष्ठ संख्या (96)

आँख आँख से जुड़ी
दृष्टि से दृष्टि
सृष्टि-सुन्दरतर !

रचना में
सब तत्व समाहित
गुंफित धरती-अम्बर

रचना-धर्मी,
शीलवान,
मानव-मन प्रेरक।
स्वर्ग-जयी हो,
विजयी हो, आत्मा-संप्रेरक।

पर जय की कामना,
आत्मजय से ऊपर क्या ?
मानवता श्री-सुलभ
नहीं होती भूपर क्या ?

ऋषि-मुनि-वंदित देव
किन्तु क्या देवराज भी।
कभी रहा हो श्रेष्ठ
मान्य क्यों रहे आज भी।

पृष्ठ संख्या (97)

सभी राक्षसी कर्म,
अथक सत्ता की लिप्सा।
मानव के सम्मुख

झुक जाती स्वर्ग-अभीप्सा।

ज्ञान-ध्यान,
तप-त्याग, अहिंसा,
        करुणा-सेवा
सब मानव से उदित,
मुदित-मन
        प्राण-परेवा।
शान्ति-कपोत प्रतीक,
नहीं वह काल-कलेवा।

मानुस पेम भयेउ बैकुंठी।
नाहित काह छार इक मूठी।

यहाँ मानसिक सृष्टि उपजती
देह-वृत्ति से हीन,
पर विलास-जर्जर मन रहता
सोम-पान में लीन।

पृष्ठ संख्या (98)

मैं ही उपजा देव-लोक में
और देव निर्वंश।
पृथ्वी से आया होगा
या मेरा कोई अंश।

मुझमें फिर-फिर जगती रहती
जाने कैसी चाह !
धरती तल पर जाने को
आकुल, आकाशी राह !

वैभव-सिंचित,
नंदन-वन की कृत्रिमता—
लगती मुझको प्रतिकूल।
सहज भूमि पर छत्र तानते
गहन वनों की
छाया ही
मेरे मन के अनुकूल।

ऊब चुका मैं
सुनते-सुनते—
अप्सरियों-परियों की,
छल-मय बातें।
सहते-सहते

पृष्ठ संख्या (99)

टूट चुका मन
इन्द्र-शची की देखीं इतनी घातें।

माता-पिता स्वार्थ-लक्षी नित
अहंकार नत-उन्नत।
मुझको कोई नहीं चाहता
मैं निर्वासित, आहत।

अपना-अपना पक्ष देखते,
राजनीति घर में ही।
मैं क्या कोई क्रीड़ा-कंदुक
रहूँ अन्य कर में ही।

वे प्रभुता में लीन
अहंकारी अभिभावक,
अपने सुत को
सदा मनाते
पालित शावक !

नहीं समझ पाते वे,
उसकी सहज मनोगति।
उसके मन की भाषा
उनसे भिन्न, भिन्न मति।

पृष्ठ संख्या (100)

प्रतिभा को संत्रास समझते
हर प्राणी को दास समझते
यथा-स्थिति के सदा पक्षधर,

हर विकास को त्रास समझते।

प्राण-शक्ति असुरों में अद्‌भुत
घ्राण-शक्ति देवों में चर्चित
सभी कहीं षड़यन्त्र सूँघते,
देवासुर-संघर्ष सुवासित।

एक दिवस
जब मुझे बुलाकर
अतिशय स्नेह दिखाने
लगे शीश पर हाथ फेरने
मुझको कुछ समझाने
मैं समझा नक्षत्र भले हैं
हर्ष हुआ कुछ मन में।
पर उनकी भौंहों के तेवर,
छिपे रहे आनन में।
ऊपर कुछ, भीतर कुछ,
मैंने,
यही स्वर्ग-गति देखी !

पृष्ठ संख्या (101)

किससे कौन अधिक है—
इस निश्चय में दुर्गति देखी

हाँ, तो कहा पिता ने
अतिशय कोमल स्वर में—
मैं संकट में हूँ
क्या मेरी एक बात मानोगे।
पहले हाँ, कह दो इस क्षण ही,
कारण फिर जानोगे !

लगा सोचने
वे संकट में हैं,
या मुझको
डाल रहे संकट में !
कैसा कारण,
जिसे छिपाते

इस प्रतिश्रुति के पट में।
मैं चुप था,
वे व्यग्र हो उठे
मैं चुप था,
वे उग्र हो उठे
मैं चुप था,

वे क्षुब्ध हो उठे
मैं चुप, वे विक्षुब्ध हो उठे।

मैं था उनका पुत्र
क्षोभ मुझमें क्या कम था।
उनमें उपजा क्रोध
और मुझमें संयम था।

पर संयत हो,
मैंने सोचा—
उचित नहीं संघर्ष अचानक,
बिना विचारे,
माता से भी बिना बताये।

नत शिर होकर तुरत
कहा मैंने—
जो आज्ञा !
जो इच्छा हो सुरपति की
वही करूँगा—
मुझे प्राण देने हो तो भी—
मैं तत्पर हूँ
मुझे भेज दें कहीं,

प्रणत हूँ।
नहीं स्वर्ग का हूँ मैं लोभी।

इन्द्र चकित थे,

कुछ विस्मित भी।
बिना किये प्रतिवाद
बिना कुछ कारण जाने
मैंने कैसे सहमति दे दी
बिना शची की सम्मति पाये !
कैसे मैं हो गया अचानक
पिता पक्ष में ?

सदा पक्षधर होकर ही
वे रहे सोचते
नहीं कभी जानी, पहचानी,
इस जयन्त के
तन-मन की गति !

नहीं कह सके
मुझको क्या करना है तत्क्षण,
मुझे लगा—
उनका विचित्र व्यवहार विलक्षण।

पृष्ठ संख्या (104)

मैं दुर्गती हूँ
मैं कुत्सित हूँ,
लेकर मन पर भार, गये वे।
मेरी सहमति मिली,
जीतकर हार गये वे।

एक दिवस फिर ऐसा आया।
फैली इन्द्र-देव की माया।
मुझको अपने पास बुलाकर
सुर-गुरु ने संदेश सुनाया।
अनुज सहित दण्डक-प्रदेश में,
सीता-सह वनवास-वेश में,
दाशरथी क्या सक्षम होंगे,
असुर नाश में।
छल-बल करके
तुम्हें तथ्य लाना प्रकाश में।
गुप्त-मन्त्रणा का फल

मैंने देख लिया सब
राजनीति के भीतर उलझी
उनकी गुरुता
प्रकट हो गयी।

पृष्ठ संख्या (105)

मैं था उनका शिष्य,
और मुझसे ही निज उद्देश्य छिपाते।
मेरी श्रद्धा और खो गयी।
ऊपर से कह रहे,
राम-बल मुझे देखना—
किन्तु पिता के परामर्श से,
यही जानना चाह रहे वे।

क्या मैं सक्षम स्वयं
स्वर्ग-जय कर लेने में
मुझमें कितनी शक्ति,
यही तो थाह रहे वे !

मेरा बल—
किससे कम
किससे अधिक,
यही बस उनकी चिन्ता
रावण का संदर्भ
जानते स्वयं पुरन्दर
उनको डसती वही अहिन्ता।
असुर, यक्ष-गंधर्व देव-दानव या मानव

पृष्ठ संख्या (106)

ऋषि हो, मुनि हो, नर-नारी हो
उनकी कूटनीति के भीतर
कौन नहीं है।

सहस्त्राक्ष थे,
क्या से क्या हो गये अचानक

उनके मुख पर
कैसे चिह्न उभर आये हैं,
उनका साक्षी
केवल मेरा मौन नहीं है।
शची देखना नहीं चाहती
उनका मुँह भी,
कितना गर्हित कर्म,
स्वर्ग को शाप दे रहा।
छल से, बल से
काम-वासना से
क्या नारी सुलभ हो सकी,
कभी किसी को, बिना प्रीति के
बिना प्रणय के।
नीति-अनीति द्वन्द्व से ऊपर
नरक स्वर्ग अथवा हो भूपर

पृष्ठ संख्या (108)

मानव संस्कृति ही मानों
नारी की स्वीकृति
पाप-वृत्ति करती रहती
शब्दों को शंकित।
आत्मभाव कवि के पृष्ठों पर
रहता अंकित।

स्नेह-पूरित,
कमल-कोमल-कान्त थे वे,
किसलिए अब सूक्ष्मता से भर रहे मन
क्यों बने हैं आज इतने-क्रूर !
सोमपायी
अथक मद से चूर।
अब नहीं पहचानते हैं
स्वयं अपना रूप।

या अपने तनुज को
कौन सी इच्छा
नहीं पूरी हुई उनकी,
कौन सी आज्ञा

नहीं मैंने स्वयं चरितार्थ की अब तक !

पृष्ठ संख्या (108)

सदा इच्छा और आज्ञा की
        अवांछित पूर्ति।
क्या यही है देवता की या पिता की मूर्ति !
लोभ से वरदान देना—
हर असुर को,
आसुरी हर वृत्ति को देना बढ़ावा
फिर उसे षड़यन्त्र से,
        छल से मिटाना।

श्रेय लेना,
प्रेय लेना

        भक्त जन से,
        स्वयं पूजित हो !
चाहते हैं—
राम बन कर
मैं सदा निश्शब्द
        आज्ञा करूँ पालन !
और माता का निरादर
        सहूँ, झेलूँ
असहतम अपमान अपना
उस सुधर्मा सभा में—

पृष्ठ संख्या (109)

युवराज होकर भी
प्रताड़ित बनूँ
मातृदोषी मैं स्वयं को मान लूँ क्या
स्वयं मन से इन्द्र-पद
स्वीकार लूँ क्या।
        रहेगा फिर शेष क्या
        इस स्वर्ग में ?
जीत जायेगी असुरता
नहीं यह अपकर्म मुझसे नहीं होगा

नहीं होगा !
नहीं होगा !!
नहीं होगा !!!

अपने को तेजस्वी कहकर
ऋषियों की अस्मिता मेटते।
मायावी, कपटी, छल-छद्मी
हृदय लगाकर मुझें भेंटते।
शक्तिमान होकर छोटा मन।
अति विराट होकर बौनापन !
मैं अपने पथ-भ्रष्ट पिता का
कब तक ढोऊँगा पाप !

मेरी माता के मन में भी
फिर-फिर इन्द्राणी बनने की
अथक लालसा।
यही सोचती
फिर-फिर इन्द्र-लोक के नायक
बदले जायें
उसके संस्कारों में जीवित
वह परम्परा
जो असुरों में गौरवशाली
रही निरन्तर।
अपने कुल में
मातृ-चेतना से संचालित
युवराज्ञी वह थी, पुलोमजा,
पुरुष रहे सब उसके अनुचर।
नहीं उसे अब कुछ भी बाधा
स्वयं स्वर्ग की साम्राज्ञी वह।
अद्वितीय सौन्दर्य-शालिनी !
वज्रायुद्ध-धारिणी मृणालिनी !
शची समान जननी !
अजेय, त्रिभुवन-विहारिणी !

पर उसके मन की गति, अद्भुत
वह भी निज स्वभाव से हारी
व्याकुल नव-नव इन्द्र खोजती
नव विलास-लीला प्रयोजती
        माता होकर बनो स्वैरिणी
        यही महा सन्ताप !

मेरी माता
अति सुकुमारी
परिणीता भी,
सदा कुमारी !
मन ही मन वे चिन्तित रहतीं,
रचती ऊहपोह निरन्तर।

किन्तु इन्द्र से यदि कुछ कहतीं |
निपट उपेक्षा उनकी सहतीं।
महाक्रोध से वे जातीं भर।
ज्वालामुखी धधकता भीतर।
मैं सुत होकर क्या कर सकता।
व्यथा-कथा सुन-सुन कर थकता।
जितना माँ के पास पहुँचता
उतना ही संदेह सिरजता
पिता मुझे अक्षम्य समझते

पृष्ठ संख्या (112)

बात-बात पर सदा उलझते
हो सकता है,
वह मन ही मन
कहीं लगे हों
        मुझको भावी इन्द्र मानते।

हो सकता है
अपने भीतर स्वयं झाँकती
पितृघ्नी छाया से डर कर,
युद्धों में विजयी होता मैं,
अपने जैसा मुझे मानते।
        जब भी जाकर।

नहीं सहज उल्लास देखता
उन तक आकर।
मुझको लगता,
मेरी लोक-प्रियता बढ़ते
नहीं देखना चाह रहे वे
मेरी आँखों के गह्वर में
जाने क्या-क्या थाह रहे वे।

साम्राज्ञी की शक्ति उधर हो जाती सक्रिय
मेरे हित में,
मैं युवराज

पृष्ठ संख्या (113)

स्वप्नदर्शी
बनने को आतुर
ऐसा लगता मुझे
प्रेरती मुझको भावी
मेरे मन में नियति, कर्म करने को कहती
मेरा ही प्रारब्ध झाँकता
जल-संचय में
मेरी ही अस्मिता
स्वयं मेरा दुख सहती

सबके आगे,
पहले वे ही स्वयं मुझे युवराज बताकर
रहे पुलकते।
और अकारण कभी-कभी
उनके नयनों से,
अश्रु ढुलकते।

अब जाने क्या कारण
उनके मन में आता।
धारावाही सहज स्नेह,
मरु-थल हो जाता।
जाने किस शंका-आशंका से घिर जाते।
मेरे प्रति उन्मुख होते-होते फिर जाते।

पृष्ठ संख्या (114)

जब भी मैं
अपने मन की गति
माँ से कहता—
अन्तराल को जाग्रत पाकर
वे चुप रहतीं
मैं चुप रहता।

किन्तु एक दिन
मुझको कहना पड़ा
        विवश हो,
मैं पृथ्वी की ओर जा रहा,
मेरा मन अब नहीं लग रहा
नंदन-वन में।
वे कुछ बोलीं नहीं,
देर तक आँख झुकाये,
        रही देखतीं पृथ्वी तल की ओर
        लालसा-भरी दृष्टि से।

मुझे लगा—
कुछ बात गहन है, उनके मन में।
हुआ कठिन आघात अचानक
वज्रपात-सा।

पृष्ठ संख्या (115)

सहम गया मैं
भीतर-भीतर
सहसा मैं निःशब्द हो
वह प्रसंग
उस दिन यों आकर ठहर गया,
दोनों के भीतर—
जैसे कोई चित्र बना दे
मन की अनगढ़ शिला-भित्ति पर।

मैं जाऊँ या नहीं,
कठिन हो गयी समस्या।
मेरे मन को करनी होगी
पुनः तपस्या, अथक तपस्या।
बिना पिता-माता में सहमति हुए
अगर जाऊँ तो मेरा मन भी—
कब निश्चिन्त रहेगा।
वे जो कुछ भी कहें जहाँ तक,
उससे आगे
मेरा मन सौ बात कहेगा।
उनके मन में क्या है,
मैं कुछ नहीं जानता,

पृष्ठ संख्या (116)

हित-अनहित की बात
वहीं सोचें, पहले,
मैं यही मानता।
पर कितने दिन करूँ प्रतीक्षा !
मन से मन की करूँ समीक्षा—
किन्तु कहाँ तक,
यही प्रश्न फिर-फिर
        ले जाता है निर्जन में।
उत्तर देगा कौन,
प्रेरणा किसके मन में।
नहीं कल्पना मेरे भीतर
हुई जागरित

जड़ीभूत मानस में कैसे तैरे कोई !
कौन जगाये रुद्ध-चेतना मन में सोयी !

किससे समाधान की आशा करूँ,
        स्वयं मैं ही हताश हूँ।
लगता है, मैं शाप-ग्रस्त
        जीवित विनाश हूँ।
माता का वह मौन,
        नहीं क्या सम्मति उनकी।

पृष्ठ संख्या (117)

सुत होकर भी नहीं
जान पाया गति उनकी !
क्या वे वैर इन्द्र से लेंगी, मेरे कारण।
क्या वे चाहेंगी, उपजे संदेह अकारण |
तब मैं ही निर्णय करता हूँ।
यही आज स्वर्ग त्यागना होगा मुझको
निश्चय करता हूँ।

देख चुका नन्दन-वन
अब मन चले दण्डकारण्य।
देव-देह भूपर पहुँचे,
वह मेरा बने शरण्य।

तरुणाई आने से पहले
मैं वयस्क बन बैठा।
देव-मिथुन क्रीड़ा-रत रहते,
दिन में भी पैठा।

पारिजात-कुंजों में—
मेरा स्वागत करते जोड़े।
पारावत के युग्म सदृश
निज चंचु चंचु में जोड़े।

पृष्ठ संख्या (118)

करने को कुछ और नहीं था
वन-उपवन में रहना।
सोम-पान करना, जिस-तिस के
प्रेम-पाश को सहना।

अप्सरियाँ मुझमें, नव-यौवन
आते देख रही थीं।
होकर सबसे विमुख
धन्य अपने को लेख रही थीं।
तू उनका प्रिय-भाजन—

सब युवराज समझते तुझको।
कितना अहंकार उपजाता
वैभव, अनुभव मुझको।

वृद्ध मुझे क्या शिक्षा देते।
मेरे कुल से भिक्षा लेते।

असुरों से प्रतिस्पर्धा चलती
कभी देव-गुरु ध्यान न देते।
मैं था सुरपति-पुत्र, भला वे
कैसे मुझको मान न देते।

पोथी पढ़ूँ, रहूँ या विचरूँ,
करूँ मद्य का सेवन।
उनसे क्या,

वे क्रीत-दास से लगते मुझको उस क्षण
बुद्धि विलक्षण निज हित-शोधन।
शिष्यों को गुरु का उद्बोधन।

राजनीति में लगे रहें गुरु,
गुरुतर धर्म वही तो संभव !
राज्य उन्हीं से दृढ़तर होगा,
उनसे शिक्षा-कर्म असंभव !

मैं जीवन का मर्म समझता,
मैं शठ-शाठ्य नीति में दीक्षित।
व्यर्थ करूँ क्या, हो निष्प्रेरक,
इस पठ-पाठ्य रीति में दीक्षित

जिनके गुरु हो स्वयं बृहस्पति,
वे क्यों करें ज्ञान की बातें।
प्रतिभा हो अंकुरित हृदय में,
मन में योग-ध्यान की बातें।

किससे योग, ध्यान भी किसका,
जैसा मन में आये।
स्वर्ग-लोक की ऐसी शिक्षा
धरती तल तक जाये।

गुरुकुल, ऋषिकुल और देवकुल
वकुल-ध्यान से लक्ष्य साधते।
मैं किसकी शियता करूँ जब
गुरु ही मेरा पंथ बाधते।

पृष्ठ संख्या (121)

•

सीता-जयन्त

शिशुता अनन्त से
खेल कर रही सीता।
छलिया जयन्त से
खेल कर रही सीता।

कुछ शिशु पक्षी-वेशी
कुछ पशु-वेशी हैं।
कुछ देव-रूप सुन्दर
कुछ अन्वेषी हैं।

वे खोज रहे उनको
जो छल करते हैं।
जो राक्षस हो,
मानव-शरीर धरते हैं।

हो देव, मनुज का रूप
बनाये हो जो।
हो देव, मुखौटे ललित
लगाये हो जो।

पृष्ठ संख्या (122)

मिल सका न कोई
रही खोजती सीता।
क्रीड़ा का उच्छल दिवस
किसी विधि बीता।

उनकी जिज्ञास
जिसके मन में आयी
उसने शत-मुख हो
जन-जन तक पहुँचायी।

सीता की शिशु-क्रीड़ा
अपूर्ण थी टोली !
होनी ही मानों
काकमुखी हो बोली

बस एक तरुण
शिशुओं के भीतर पैठा
देवोमय सुन्दर
काक-वेश ले बैठा

उसकी काली काया
भी अनुपम लगती।
उसके आने से
मन में ममता जगती

पृष्ठ संख्या (1203)

वन चारी नारी-पुरुष देखते उसको।
कौतुक से रहते चकित, छेकते उसके।

पर्ण-कुटियों से
अधिक था कुंज-सुख
विटप-लतिकाओं भरा
वह तट मनोरम

मधुमयी मंदाकिनी का
शान्त निर्मल जल
दर्पणों की सरणि रचता
बाँधने मन सा खुला आकाश
पर हुआ बाधित
इन्द्र-सुत की कठिन करनी
काक-पक्षी राम की छवि
ओढ़ कर बहुरूपिये पन से
हो गया हतभाग्य पक्षी काक

काक-पक्षी केश,
मुख पर लगें सुन्दर
राम जैसा वेश हो उसका,
किन्तु ऐसा कहाँ संभव
बीच में था कहीं नारद-शाप

पृष्ठ संख्या (124)

कृष्ण बनना
राम को भी था असंभव
कहाँ त्रेता, वहाँ द्वापर
बन गया बाधा तुरन्त जयन्त आकर,
राम की श्रृंगार-लीला रुक गयी।
कृष्ण-लीला की नियति से झुक गयी|
हुआ बाधिक मन
यहाँ तक पीड़ित हुई सीता
अचानक प्रेरणा ही चुक गयी।
मांस-लोभी काक के शतवार चुभते चंचु

रुधिर से सन गया तन-मन
हुई सहसा गाढ़-निद्रा-भंग

सोचता हूँ
कहाँ रक्षा-भाव, मेरा सो गया
कहाँ की निद्रा मुझे आयी
जिसे लाया साथ रक्षा-वचन देकर
वह धनुर्धर तेज कैसे सो गया।
काल गति को मुझे

सीता से विमुखता दे रही
स्वर्ग की कामना
मुझसे कौन बदला ले रही

पृष्ठ संख्या (125)

स्वयं सीता ने
रची अपनी नियति,
निजी मर्यादा
राम सोये रहे जब तक
रक्त बहता रहा—
सीता वक्ष से,
पाँव तक सब देह भीगी
राम सोये रहे—
निद्रा गाढ़ थी।

क्यों नहीं
सीता जगाने के लिए उनको
हुई तत्पर,
और सिर झकझोर कर—
क्यों नहीं निद्रा-भंग कर दी उसी क्षण
उर-विदारक काक के प्रति
कौन समझेगा इसे ममता
बाल-कर्मी
वत्स जैसा चंचु-धर्मी
स्नेह इसको कौन मानेगा ?
कहीं कोई गूढ़ गति होगी।

पृष्ठ संख्या (126)

जगत सारा स्वर्ग-संचालित उसे लगता
लोक ऐसी बात को भी
इन्द्र का षड़यन्त्र जानेगा।
दैव-प्रेरित समझकर
निज नियति मानेगा।

काल-चक्र स्वयं
बना देता किसी को राम
और हो जाते नियति से

सब नियोजित काम

नीतिवादी राम का मन
कृष्ण बनना चाहता जब
और सीता राधिका का रूप लेना चाहती जब
व्यक्ति मन में
उदित हो जाते असंख्य जयन्त,
छद्म रचते काक-कर्म अनन्त,
        और हो जाती सतत अभिशप्त लीला

कुछ क्षणों ही
विवश सीता का हृदय
पाप-कर्मी को सहन करता रहा

पृष्ठ संख्या (127)

या कि उसमें निहित
शिशुता के लिए भी
        स्नेह मन में रहा संचित
क्या हुआ जो गर्भ से उपजा नहीं
        तो वक्ष से उपजा।
सदा नारी के हृदय में—
रक्त के ही साथ बढ़ती रही निर्मल—
        दूध की धारा।

भिन्न हो संदर्भ, लेकिन
नर उसे पहचानता है।
दूध से क्या रक्त का सम्बन्ध होता,
        जन्म से ही जानता हूँ।

रक्त-धारा क्यों उपजती रही
        सीता-वक्ष सिंदूरित।
क्षीर-धारा क्यों नहीं निकली
        सहज मातृत्व से पूरित

प्रश्न उठता है यहीं से
कौन देगा उचित उत्तर ?

पृष्ठ संख्या (128)

पुरुष लेता
सदा नारी की परीक्षा,
और उसके बाद भी
शंका नहीं मिटती !

मान लेता राम का मन
असह जन-अपवाद
        जिस क्षण,
सती को असती बनाता;
लोक-जीवन पूछता फिर—
राम-सीता में कहाँ था
        स्नेह का कण।

लोक मानस
सोचता रहता निरन्तर
अगर वे सर्वज्ञ थे तो
ज्ञात था क्या उन्हें
सीता की परीक्षा
        और भी लेनी पड़ेगी।

समर-विजयी
राम जैसा पुरुष भी,

पृष्ठ संख्या (129)

साहस नहीं करता—
लोक-मय को जीतने का
मान लेता स्वयं निर्वासन
मात्र सीता का,
निष्करुण हो।

कहीं नारी शक्ति लगती,
और पुरुष अशक्त हो जाता
हार कर
अपने सहज शंकालु मन से,
स्वयं ही भयभीत हो जाता

सोचता है—
 और भय ही प्रीति कर होता,

मृत्यु-भय ही
स्नेह उपजाता रहा
क्या युग्म-मन में,
या कि मानव-चेतना
आनन्द-धारा
        स्वयं उपजाती रही,
रक्त-धारा
दूध की धारा बनाती

पृष्ठ संख्या (130)

बुद्धि थक जाती,
        विचारी।
कहीं मन से, मान हारी।

चूड़ामणि क्या अपर्याप्त थी।
अभिज्ञान के लिए, राम को,
लक्ष्मण से भी नहीं कहा जो
शक्र-पुत्र का वह प्रसंग,
कह दिया गया क्यों
हनूमान से

बाहर से प्रसन्न होकर भी
भीतर-भीतर
रुष्ट हुए होंगे क्या फिर से—
अन्तर्मन की व्यथा जानकर
किसी अपरिचित मुख से सुनकर

रहे सोचते होंगे मन में आर्य-पुत्र वे
कैसी भी हो विषम परिस्थिति !
अन्तरंग एकान्त क्षणों की
बात कहे क्यों कोई सेवक
वह भी अतिशय विस्तृत करके।
                सुने-सुनाये !

पृष्ठ संख्या (131)

क्या बना यह शेष
अग्नि-परीक्षा के लिए कारण
और निर्वासन अवध से भी, अकारण।

साथ उनके
गयी मैं जिस भाव से
उस गहन वन में
क्या नहीं वह भाव
        उनमें रहा संचित !
क्यों नहीं वे साथ मेरे गये
तज कर राज्य-श्री को।
अगर कह देते स्वयं आकर
वचन-सुख तो प्राप्त कर लेती।
दिया निर्वासन मुझे ही गया,
        वह भी किया छल से
कौन सा अपराध मेरा
        हो सका अब तक प्रमाणित !
        लोक-निन्दित ?
और अपनी बात कहने के लिए
क्या मिला अवसर ?

पृष्ठ संख्या (132)

नीति कैसी ?
प्रीति कैसी ?
और प्रेम-प्रतीति कैसी ?
सोचती हूँ
आत्मधर्मी
रहे सदा सतीत्व मेरा !
सफल हो मातृत्व मेरा सर्वधर्मी।
नहीं करना मुझे जाकर
        किसी के आगे प्रमाणित
        कर्म मेरा, धर्म मेरा।

स्नेह में
कर्त्तव्य कुछ

होता नहीं क्या,
राज्य ही कर्त्तव्य देता ?

लोक की दृढ़ चेतना
जब राम में थी,
भिन्न थे वे।
लोक-शंकित हुए जब से,
खिन्न थे वे।

पूछती हूँ
शक्ति किसमें,
राम में या लोक में !
राम मिलते हमें
सीमित राज्य-सुख में
या
असीमित शोक में,

पाप किसमें,
दुसह मर्यादा-रहित
तारुण्य में ?
या अधिक वह—
सहनशीलता-वृत्ति में,
कारुण्य में ?

•

मेरी शक्ति रहेगी सीता
यदि उसमें उन्मुखता।
विमुख हुई तो मेरा मन भी,
भीतर-भीतर दुखता।

नारी ही नर को देती है,
निज रक्षा का भार।
और वही सहती है उर पर
असह जयन्त-विकार।

देवों को भक्षक ही रहना ?
नागों को तक्षक ही रहना ?
नारी-सुख के लिए निरन्तर
क्या नर को रक्षक ही रहना।

तन से ही नारी-नर का
सामीप्य रहे क्यों।
मन से उनका युग्म-भाव
अंगार सहे क्यों ?
रहे गहनता में सक्रियता,
सत्य निकट हो।
संघर्षों में, सहज—
आत्मविश्वास प्रकट हो
बहे नारदी दया,
जयन्तों के ऊपर भी,
करुणा की धारा अजस्र
फैले भूपर भी।

पृष्ठ संख्या (135)

शक्तिमान हो राम,
शक्ति त्रैलोक्य विजयिनी
हत जयन्त हो प्रणत,
स्नेह सीता-संचयिनी।

परिणय-सुख
कब मिला उन्हें—
वे थे निर्वासित,
राज्य-प्राप्ति के पहले से ही
हुए देव-गण से अनुशासित
सरस्वती की कृपा इन्द्र ने
जिस क्षण पायी।
कवि-वाणी डूबी करुणा में
उसे क्रौंच-वध दिया दिखायी।
करुणा में श्रृंगार
कहाँ संभव होता है।
काक काकु से

रसाभास के कण बोता है।
हो कर वे पल्लवित
विषैले तरु बन जाते।

पृष्ठ संख्या (136)

काक-दृष्टि से
दण्डक को उद्दण्ड बनाते।
चंदन-वन की गंध
खींच लेती वे निशिचर,
मलयानिल के साथ
रेंगते बनकर विषधर।
उनकी फुफकारें,
परिणय-सुख कैसे देंगी।
सीता हों या राम,
असुर हो बदला लेंगी।

पूर्वाभास जयन्त बन गया।
रसाभास का अन्त बन गया।
राम-कथा की परिणति ऐसी,
काक-रूप सन्त बन गया।

परिणय-सुख का
साक्षी था वह
इसीलिए
अंधा होना ही
उसे दण्ड था।

पृष्ठ संख्या (137)

हुई नारदी कृपा
और सीता की करुणा।
एक आँख देकर
प्राणों की रक्षा पायी।

कुसुम चुनते राम,
सीता देखती।

केश गुहते राम,
सीता देखती।
तिलक रचते राम,
सीता देखती।
अधर छूते राम
सीता देखती।

नहीं कोई और उनके बीच
जो बाधक बने
लता-तरु पुष्पित
स्वयं साधक बने

पृष्ठ संख्या (138)

प्रकट होते राम
आँखे देखतीं।
ओट होते राम,
मन में लेखतीं।

स्वयं सीता
आँख बनती जा रही।
समय बीता,
पाँख बनती जा रही।

समय ही है,
वलय-निर्मित शंख।
श्वेत-श्यामल तन,
निरंजन,
काल-खंजन पंख।
नेत्र खुलते और मुँदते,
प्रति निमिष, प्रति दिवस,
करते रूप-रंजन।
यह तिमिर-आलोक-लीला,
नटी-सी करती चमत्कृत,
शील-गर्वित कभी लगती,
कभी दुःशीला।

पृष्ठ संख्या (139)

चटुल खंजन
कभी छिपते,
कभी होते प्रकट।
जैसे राम, रहते सदा—
सीता के निकट।

देखती सीता निरन्तर
गोद में अनिमेष—
        सोते राम को।
सत्य में साकार
        होते राम को !
दामिनी दल देखकर
        हो गगन-घन-भीता,
राम तन से भेंटती सीता,
काक-पक्षी देखते ही
वही मुद्रा याद आती,
धवलता को कालिमा—
दुष्कर्म की मसि में डुबाती।
पृष्ठ रँगती, लेखनी की नोंक से,
फिर क्षरों को अक्षर बनाती।

पृष्ठ संख्या (140)

सृष्टि-रचना कहाँ रुकती,
        शेषशायी नाभि से उपजे कमल में।
ज्यों खिली हो उर्मियों के बीच कोई नयी कलिका,
युग-युगों से थी समायी, काल-तल में।

पंख जिन पर रहे अंकित,
क्षण दिवस युग कल्पशत,
वाण जैसे राम के मन्त्रित निशत

काल ही को दंड जिसका।
तृण-विशिख ही दंड जिसका।

कौन रक्षा करे उसकी,
पुत्र हो उद्दंड जिसका ?

इन्द्र हो या शची माता।
रुद्र हो या हो विधाता।

राम ऐसे
दृष्टि में जिसके बसे हों
वही सीता
स्नेह की एकात्मता के
सब कसे हों,

स्वर्ग-धरती
और दोनों का विभाजक
अन्तरिक्ष।

सहज सुख से रीझकर
नयन अपने मूँद कर
राम को शतबार सीता देखती।
चल-अचल सौभाग्य अपना लेखती।

फिर अचानक हाथ अपना खोलकर
अँगुलियों से कमल रचकर देखती।
लेखनी कवि-चित्र कर्मी की वहीं
जनकजा की मनोगति को रेखती।

हृदय-पट पर
कल्पना की तूलिका।
रंग-रंजित
कुसुम-संचित धूलि का—
आधार लेकर,
काम-सुन्दर
राम की छवि लेखती।

मुँदी आँखों
स्वयं सीता देखती।

रति सदृश
जिसका अलक्षित पति हुआ।
राम में लक्षित पुनः
मन को छुआ।
खो गया आकार
शिव के नेत्र ने
कर दिया साकार उसको
राम ही थे काम
सीता के नयन में
हो गया रति-काम का तब जन्म
जनकतनया-दशरथात्मज
के ललित नव-स्नेह में
जो मिली वन में अलौकिकता
कहाँ वह होगी सुलभ फिर
हर्म्य निर्मित गेह में।

बन-वासी होकर, सुन्दरतर—
जटा-कलाप सजाये सर पर,
आज जटिल हैं राम,

किन्तु क्या सदा जटिल थे।
उनकी वह छवि
मेरे मन में रही समायी,
स्वयं काक-पक्षी हो
वरने आये मुझको।

शक्र-सुमन ने
मेरे मन की दुर्बलता को
स्वयं काक-पक्षी बनकर
छल लिया अचानक
उसके सब संस्पर्श
राम जैसे ही मुझको लगे

सहज सुख मयता देते।
भूल गयी मैं उस क्षण होकर
कुटिल देव-माया से वंचित
मन में कितना रूप राम का
रहता संचित !

सोये राम शरीर रूप में,
किन्तु हो उठे मनसा जाग्रत
जब जयन्त ने उनकी छवि
अपने में भर ली।

संस्पर्शों से विसुध-हृदय हो
आँख बंद तब मैंने कर ली।
नहीं जानती थी
केवल संस्पर्श पाप है,
वह भी, जो राम-स्मृति रच दे
मेरे भीतर।

मन में, तन में या जीवन में
कहीं राम से भिन्न और कुछ कैसे होगा !

सीता-मन में राम
राम के मन में सीता,
उस अभिन्नता में ही
सारा जीवन बीता।

शत जयंत आकर
सीता से विलग
राम को कैसे करते !
मन में कहीं खोट हो दुर्वह,
या अपराध-बोध हो अहरह,
जिसके भीतर
क्या वह मन सीता-मन होगा।

•

स्वप्नमय राम

राम देखते स्वप्न
मुँदी थी पलकें कंपित,
हलके से पुतली हिल जाती।
उस कंपन से
सिहर-सिहर उठता सीता-मन,
दोनों की गति
दोनों की मति से मिल जाती।

रोमांचित हो रहे राम
सीता में अंकुर उठते।
हृदय धड़कता इधर,
उधर थर थर—
        युग्मित उर उठते।
पुष्ट शिराएँ
तन छूते ही
        सरिता सी बह जाती।
बिना छुए भी बहती रहतीं
        हृदय-सिंधु लहरातीं।

पृष्ठ संख्या (146)

स्वयं अपने वक्ष पर आघात झेले
काक की करनी-अकरनी,
        पाकरिपु का पुत्र !
नाम वैदेही,
देह की चिन्ता करे क्यों,
राम क्यों रक्षक बने,
जब स्वयं उसका मन सबल हो
        आत्म-रक्षा में।

राग-श्रम से

गाढ़-निद्रा में
श्रमित हो राम सोये।
व्यथित सीता
वक्ष जिसका
नोचता ही रहा निर्मम।
कठिन काली
क्रूर और कुरूप
अपनी चोंच से।

कौन जाने
किस तरह किस भाँति

सीता ने सहा सब
इन्द्र-सुत के छद्म को
पहचान क्यों पायी नहीं ?

उष्ण धारा रक्त की
बहती रही चुपचाप।
वक्ष से रुधिराक्त, कुछ
कहती रही चुपचाप।
        कौन उसको सुने समझे
पाप की हर दृष्टि
नारी को असह होती
        सदा तो
पाप क्यों बढ़ता धरा पर।
प्रश्न पूछे कौन
कौन उसके बीच उलझे।
धरा की बेटी
जहाँ तक रही सहती
        यन्त्रणा सीमित असीमित।
कौन सह पाया अभी तक !

स्वयं रुक जाते
ललित रति-काम के संसर्ग

भूमि के सुख में
सदा बाधक रहा है स्वर्ग।

विषम संकट जानकर भी,
सो गया मैं
देखता हूँ
किस तरह सीता करेगी
आत्म रक्षा !
इन्द्र-सुत यदि पाप बनकर
स्वयं ही आ जाय
कुटिल कर्मी काक होकर।

शची-मन की वासना ही
इन्द्र-पद देती जहाँ हो
वहीं कुत्सित स्वर्ग-संस्कृति
भूमि पर छा जाय।

राम सोये,
दूर लक्ष्मण,
शक्र-सुत हो
क्यों न आक्रामक !

पृष्ठ संख्या (149)

देखकर उसकी चपलता
मुग्ध हो
वात्सलय
देती रही उसको,
स्वयं सीता
भूमिजा ही करे जिसकी सृष्टि
वक्ष पर हो
क्यों न उसकी दृष्टि।

देवासुर षडयन्त्र निरन्तर,
रहे भूमि को चाँपे।
तृण मय विशिख
राम सब साधे,

ब्रह्म लोक तक काँपे।

पृष्ठ संख्या (150)

•

राम का मन

राम मन में सोचते, सोये हुए।
अचल सीता-पाश में खोये हुए।
क्या कभी निर्वाध
इतना सुख मुझे पहले मिला !
कंटकित पथ
रौंदता
हर पाँव छालों से छिला।
हाथ मेरे हैं कठिन कोदंड से।
और मेरे शर, शिलीमुख-खंड से
हर दिशा संत्रास से भरती रही।
सहजता संघर्ष में मरती रही।
दिया दृढ़ कर्तव्य मुझको श्वास ने।
धरा ने दी सहचरी
तन-नीलिमा आकाश ने।
सखा बनचारी,
गहन कान्तार,
प्रिय कपि-भालु।

पृष्ठ संख्या (151)

राक्षसों से त्रस्त
मुनि शंकित
परन्तु दयालु।

कहीं टिकना नहीं,
पथ पर पैर
कब विश्राम ?

आज तक जाना नहीं,

रमणीयता का अर्थ
होकर राम ?

जनक तनया का वरण,
संचरण दीपक-शिखा जैसा।
हो गया निस्तेज नृप-दल
सौध-शृंगों सदृश कैसा ?
कंठ में वरमाला,
उत्कंठित उसी क्षण से
नियति सब।

पीड़ितों का त्राण करने
चल पड़ी दृढ़
काल-गति जब।

पृष्ठ संख्या (152)

राजसी वातावरण में
मिला परिणय-सुख
मुझे भी
किन्तु सीता की रही
जब गोद सूनी
उस अकल्पित शून्यता को,
कौन सुख मरता ?

त्राण करना
त्राण पाना
प्राणघाती कर्म।
व्यक्ति निर्वासित हुआ
पर शेष क्षत्रिय-धर्म।
सूर्य-वंशी, ज्येष्ठ भ्राता, पिता वाणी-बद्ध।
बना वनवासी, जटिल तन, वचन से आबद्ध।
मिला निर्वासन मुझे ही,
किसलिये हो और कोई साथ ?
चले हठ वश अनुज, भार्या
इस तरह तत्क्षण बढ़ाया
नियति ने निज हाथ।

आज लक्ष्मण दूर,
सीता शिथिल, मैं भी सुप्त।
कहीं मन से बिसर जाये
सहज रक्षा-भाव होकर लुप्त।
ज्ञान-चर्चा कठिन,
जीवन स्वयं संकट,
आपदा आसन्न।
किसे आश्वासन,
कहाँ तक दूँ,
असीम विपन्न।
मैं कहाँ आ गया,
कैसा वेश, कैसा देश।
कहूँ किससे आज,
अन्तर में निरन्तर क्लेश।
सब समझते यही
मैं हूँ शक्तिमान।
धनुर्धारी,
धर्म ही ज्यों मूर्तिमान !
जानता हूँ किन्तु मैं ही
नीति-पथ की बात।
कितनी कठिन होती,

पृष्ठ संख्या (154)

बादलों पर पाँव रखती छाँह
निर्मल कमल-दल पर तुहिन होती

आपदा का हेतु बनते गये जो सम्बन्ध।
तोड़ दूँ कैसे उन्हें, निज को बना निर्बन्ध।

विश्व वंदित पूर्वजों की सुयश-गाथा,
ओढ़ ले मन स्वयं, यह किसने कहा था ?

पृष्ठ संख्या (155)

•

राम सो जाते, तिमिर बनता
शयन का सातत्य।
और सीता जागती रहती
कौन कहता है
इसे दाम्पत्य !

बाहरी हो शत्रु
तो बदला चुकाये राम।
भीतर हो विषमता
तो कौन मन को
        कर सके निष्काम।

राम है तो उसे,
        थकने और सोने का नहीं अधिकार
अगर सीता चाहती हो,
        स्वयं रक्षा भार
अपना वहन करना
पुरुष की परतन्त्रता से मुक्त होना,
क्यों करे आपत्ति इस पर राम !

वही भोगे स्वयं
        नियति का फल,

पृष्ठ संख्या (156)

शंख-रेख ग्रीवा पर बनते,
        छनती छाँह बनान्तर,
श्यामल तनु, लावण्य-संवलित,
        वलित नतोदर सुन्दर।
पाटल-दल मेरी माला से
        राम -वक्ष तक पहुँचे।
पंचवाण के वाण
        खोजते लक्ष्य, लक्ष तक पहुँचे।
इन्दीवर, नीलोत्पल, उज्जवल
        अरविन्दों की धारा।
नयनों से नयनों तक धायी,
        धैर्य बह गया सारा।
कब तक देखूँ अथक

राम सोये हों, पर सौन्दर्य जागता।
मैं क्या समझूँ तत्व परात्पर।
मुझसे मेरा सत्त्व माँगता।

लगता है,
मेरी रक्षा में—
वाण साधने को कर उठते।
पर मैं उन्हें जगाऊँ कैसे।
अंग शिथिल, बाँहों भर उठते।

पृष्ठ संख्या (157)

धरे अंक में
जबसे निज सिर,
नींद सुखद आयी,
वैसी फिर,
मेरा अंक सुखद हो उनको
नींद बीच में कैसे तोड़ूँ
नहीं हो सकेगा वह मुझसे,
कैसे ममता-बंधन छोड़ूँ।

कोई भी बाधक हो, आये।
मुझको नोचे, मुझ पर छाये।
मेरा मन विचलित क्यों होगा,
अचल सुहाग राम ने भोगा।

सीता के मन पर
जयन्त की छाया पड़ती।
भावी की गति
माया की काया से लड़ती।

जब भी संकट पड़ता
सीता होती पावन, आँसू-जल से।
धरती पर रेखाएँ रचतीं,

पृष्ठ संख्या (158)

नाखूनों से अथवा हल से

और अचानक
की जाती है अपहृत छल से।

राम बड़े हों,
सुयश बड़ा हो राम-नाम से।
सीता का निर्वासन,
निश्चय बड़ा राम से।

तुम जयन्त हो
देवराज-सुत, मति एकाक्षी।
तुमको क्या अधिकार
रहो एकान्त क्षणों में
बन कर साक्षी।
सूर्यवंश
धरती पर आया
राम-रूप में।
धरती की तनया ने
उसको पहचाना था
काम-रूप में।

पृष्ठ संख्या (159)

•

बाधक जयन्त

वैदही में
देह भाव क्यों
और कहाँ तक !
यही रहा संकल्प
खींचता मुझे वहाँ तक।

आया भूपर—
बना दण्डकारण्य निवासी
रहा देखता मौन,
मैथिली की छवि
कितनी भिन्न शची से।
सीता की गति स्नेह-सुपासी,

और राम का मन।
क्या उनको
देव-कार्य के लिए जगाता,
या सोया ही रखता उसको
निज भार्या की मृदुल गोद में ?

पृष्ठ संख्या (160)

बाधक बन कर
यदि मैं आता नहीं
        राम-सीता-प्रमोद में।
यही देव-इच्छा क्या मुझमें प्रकट हो उठी।
मेरे भीतर कुत्सा जागी,
और शची के निकट हो उठी।

पृष्ठ संख्या (161)

•

सीता कर्षण

सोया समझ राम को
        जागी भूमि-वासना।
उसके मन में रही,
        रूप-यौवन-उपासना।
भूमि विशद थी,
तनय सीता में
        सुहाग सम्मूर्त।
पर जयन्त की बुद्धि विकल थी,
        बना काक-सा धूर्त।

काम-मन्त्र, जीवन-स्वतन्त्र
        फिर शची-इन्द्र की सीख ?
तरुण देह, उद्धत आकांक्षा,
        पद युवराज सरीख।

सीता स्वयं भूमि-तनया,
        लोलुप सत्ता-संग्राम।
नारी की रक्षा में जो असमर्थ,

नहीं वह राम !

पृष्ठ संख्या (162)

हर युवराज, राज सत्ताधर,
प्रभुता की ही भूख।
सीता स्नेह चाहती,
संघर्षों में जाती सूख।

शची चाहती
स्वर्ग-सम्पदा
भोगे सदा जयन्त।
उसे निरापद
कर देना ही
सत्ता का षड़यन्त्र।

कृषि-देवी सीता
उसकी रक्षा में
सब कुछ त्याज्य।
राम-राज का अर्थ
सदा होता
जनता का राज्य।
नहीं चाहती शची
स्वर्ग में पृथ्वी का सम्मान।
उसका हो वर्चस्व व्योम तक,
न हो भूमि-व्यवधान।

पृष्ठ संख्या (163)

वह जानती,
विलासी पति को—
नये क्षेत्र की चाह।
नयी वासना अथक,
नहीं उसके विलास की थाह।

शची-इन्द्र की नीति भिन्न
उनका अभीष्ट भी भिन्न।
जननी-जनक विरोधी हों तो,

क्यों न पुत्र हो खिन्न।

इन्द्र चाहता
निज जयन्त को
करे भूमि स्वीकार।
स्वर्ग और पृथ्वी पर
उसका हो असीम अधिकार।
आखण्डल, उसकी आकांक्षा,
का द्योतक सर्वत्र।
उसकी शक्ति रहे, भू-नभ पर
देव-मर्त्य एकत्र।

पृष्ठ संख्या (164)

•

इन्द्र की आकांक्षा

मेरा राज्य विशद हो
दृढ़ हो शक्ति,
शची क्यों चाहे।
जब उसके मन में
विलास-कुत्सा ही
मति भरमाये।
मैं कामी, मद्यप,
मुझको प्रिय—
पर-वैभव, पर-नारी।
'पर' क्या, 'निज' क्या,
मोह-पाश में;
नहीं सोच पाती—
नारी बेचारी।

कर्षण जिसका कर्म
उसी को शोभा देता,
नहीं इन्द्र-पद पाने की
लालसा सँजोता।

वर्षा का देवता
मात्र सिंचन का स्वामी।

पृष्ठ संख्या (165)

वह क्या जाने
हलधर बनना
हो वृषगामी।
ऐरावत से नीचे आना,
नहीं अभी तक उसने जाना।
उसे नहीं भायेगा, लथपथ
अपने श्रम से अर्जन करना।
उसका तो स्वाभाव है क्षण-क्षण
वज्र गिराना, गर्जन करना।
नीति बदलना, शोषण करना।

उसको क्यों भायेगा
भूतल पर—
पशुओं के पीछे चलना।
मूँठ हाथ में लिए,
पाँव कीचड़ में
सनना और फिसलना।
इन्द्र अहल्या पर विमुग्ध था,
रत जयन्त हल्या सीता पर
स्वर्ग रौंदता सदा भूमि को
वज्र डालता भय-भीता पर

पृष्ठ संख्या (166)

सिंचन उसका धर्म
यज्ञ को कर्म,
स्नेह-सद्भाव बनाना।
उसका ही अधिकार भूमि पर
रक्त गिराना
जिसने जाना ।
उच्चैश्रवा, धर्म-रथ हो
या हो ऐरावत
देवराज वह इन्द्र पुरन्दर,
नहीं आज तक

उसने जाना,
दिव्य वाहनों को
तजकर धरती पर आना
कंटक-पथ पर
धूलि-धूसरित हो
नंगे पैरों पर चलना
ऊँची नीची भूमि
ठोकरें खाकर गिरना
और सम्हलना।

राम क्यों स्वीकार करते धर्म-रथ।
उन्हें तो रचना स्वयं था कर्म-पथ।

पृष्ठ संख्या (167)

•

काक-दृष्टि

शील-भंग कामना
वक्ष से पैरों तक फैली थी।
पाप-दृष्टि होती क्यों निर्मल
काक-दृष्टि मैली थी।

बाधक था पति-शीश,
अंक में सोये आच्छादन सा।
चंचु-प्रहार वक्ष पर
होता रहा, वासना-मनसा।

सोते पति का नारी-मन
जगता रहता है।
पाप-पुण्य-संघर्ष,
दग्ध अन्तर दहता है।
पति के सोते
रहने की कामना सदय हो।
उसे जगाऊँ क्यों
चाहे मेरा रुधिराक्त हृदय हो।

पृष्ठ संख्या (168)

धरती की धीरता,
इन्द्र-सुत के प्रहार सहने की पीड़ा
नहीं धनी है
वत्सल कामुकता की क्रीड़ा।

सीता-मन अपने
फिर-फिर पूछ रहा है।
मैंने कुछ अपराध किया क्या
या सतीत्व का धर्म निबाहा
वही महा है ?

पृष्ठ संख्या (169)

•

रुधिर-प्रवाह

नर-नारी में रक्षणीय क्या—
केवल तन की सीमा।
तन का रक्षक मन,
पर कैसे मनोवेग हो धीमा ?

मनोवेग की धारा,
बहता तन उसमें, क्षण-प्रतिक्षण।
मति से, गति से, लयमयता से,
पूरित जीवन कण-कण।

नारी की मर्यादा
कब तक पुरुषाधीन रहेगी।
पुरुषों को मर्यादित रखना,
नारी स्वयं कहेगी।

युग्म-भाव ही समाधान है
नर-नारी के भय का।

रास-तत्व ही प्रतिक्षण पूरक
मन की टूटी लय का।

पृष्ठ संख्या (170)

कहाँ नहीं मन वेग युक्त हो
सचल अशिव-शिव छूता।
अचल बनाना संभव क्या ?
जो बने अचिन्त्य अछूता।

रक्त-स्नात नारी की काया।
पड़ती रही पाप की छाया।
कैसे सहती रही मनुजता
उद्धत हो जब सतत दनुजता।

स्वर्ग भूमि पर अत्याचारी
बने, निरन्तर असहनीय वह।
नहीं हुआ प्रतिकार अगर तो,
समय कहेगा निंदनीय वह।

नारी शक्तिमयी यदि व्याकुल,
स्वयं राम क्यों जागे।
क्या उस पर था अविश्वास,
या कुछ इसके भी आगे।

भावी हो या धर्म-प्रेरणा
गहन-स्नेह या जीवन-संबल।
नारी-रक्षा भार ओढ़ता
पुरुष मानकर उसको निर्बल।

पृष्ठ संख्या (171)

नारी को अबला कह देना
अहंकार है नर का।
दुर्गा ही उत्तर देती है
ऐसे उंचे स्वर का।

रक्षा-भाव

पुरुष के मन का
किन्तु कहाँ सोता है।
वह सोये,
भार्या हो पीड़ित,
यह कैसे होता है।
सोता रहे राम धनुधारी
रुधिर बहाये नारी !
सहे कुकर्म आतताई का,
रक्षा का व्रत भारी !

कामुकता, भावुकता,
कितनी देर टिकेगी मन में !
सीता की यह धैर्य-परीक्षा
पीड़ा व्यापी तन में।

विकृत युवा-मन,
लज्जित होगा।

पृष्ठ संख्या (172)

कब तक अपने आप
उसके भीतर बना प्रेरणा
नारद का अभिशाप।
थकी वासना पुनः
वही मातृत्व-भाव देखेगी
राम रहे सोते सुख-निद्रा
सीता नख-लेखेगी।

मातृ-दृष्टि से
काक-दृष्टि को
कब तक देख सकी वह ?
हठवादी वासना
युवा-तन,
रुधिराक्रान्त थकी वह।

कैसी विषम अवस्था
सीता सोते पति को
या तो स्वयं जगाये !

या आघात सहे कामुक के,
संकट की थी घड़ी सामने
दोनों हाथ हुए क्षत-विक्षत
वह निर्णय में
कैसे देर लगाये।

पृष्ठ संख्या (173)

तन घायल
मन चिन्तित
आत्मा विचलित।
श्वास अधीर।
धरती की सन्तान जनकज |
धरे कहाँ तक धीर |

हल की तीखी नोंक चुभाकर
जिसका जन्म हुआ हो।
उस सीता को काक-चंचु
आघात निरन्तर
सहन की थी वृत्ति
पिछले अनुभव ने फिर
उसको कैसे नहीं छुआ हो ?

सीता का अपमान
भूमि पर गिरता नारी-रक्त।
और सो रहे राम गोद में,
होकर सुख-संसक्त।

रुधिर-धार बह चले असह
नारी तन हो अपमानित।
बचा रहेगा कैसे मानव-रक्त,
सतत सम्मानित ?

पृष्ठ संख्या (174)

धरती पर धरती की बेटी
देव-लोक की युवा-शक्ति से

ही अपमानित
वह भी छल से !

बही एक तृण
रावण जैसों से
मेरा भी बनता रक्षक
वही राम का वाण बन गया
तीनों लोकों में, उसका ही बंदन होगा
सोते रहे राम
रक्षा-धर्मी होकर भी
नारी स्वयं आत्म रक्षक हो
शक्ति बने जन-बल की
सोते रहे राम जन-मन में,
नहीं शयन में उनके बाधा।
कृष्ण-रूप में मिले राम को—
सहज पूर्णता
मानव-मन की।
रक्त-धार हो क्षीण-धार,
अन्तर्हित जीवन प्रकट हो उठे।

पृष्ठ संख्या (175)

नारी वक्षस्थल में उपजे, नयी भावना—
नयी कामना में ढल जाये।
मैंने स्वयं लाज की रक्षा की
अपने तन पर तृण धर कर।
झूठे हुए राम के सारे वाण
तभी संघाना तृण-शर ?

सचमुच सोये राम
कि था सोने का नाटक।
लीला-पुरुष नहीं
पुरुषों की लीला एकटक।

मेरा धैर्य कहाँ तक
मेरा साथ दे रहा।
यही देखते रहे राम
जब स्वयं उन्हीं से

मेरा संकट नहीं गया
कुछ और भी सहा

मेरी रक्त-धार उनके
तन तक, मन तक
जीवन तक पहुँची

पृष्ठ संख्या (176)

हुआ रोष—
मेरी कृतार्थता
शत-मुख हो
धरती पर फैली
घट-घट वासी राम
कहाँ सोते हैं
यह मुनियों ने
कितनी बार कहा है।
क्षण-क्षण हो
रुधिराक्त, व्यथाकुल,
सीता-मन अपने से
फिर-फिर पूछ रहा है !
पाप-पुण्य
नारी की सहमति से
        समाज की स्वीकृति बनते।
नर-नारी की समरसता में
        घुल-मिल कर
                नव संस्कृति बनते।
अहंकार से—
नारी को वश में कर लेना
        महा असंभव।

पृष्ठ संख्या (177)

स्नेह, आत्मविश्वास,
प्रतिष्ठा-निष्ठा से ही
        सब कुछ संभव।

नर भी यही चाहता,

नारी भी
इसकी आकांक्षा करती।
नर-नारी का—
युग्म-भाव हो वंदनीय,
प्रेरित हो धरती।
राम शस्त्र-रक्षा तक सीमित
नहीं, भाव-रक्षा भी उनमें।
नेत्र-कमल-दल अर्पित करते
उदित शक्ति-पूजा हो मन में।

क्या जाने सीता-मन की गति,
वह जयन्त मायावी दम्भी।
कमल-सदृश नारी का मन है,
कमल-नेत्र है राम स्वयं भी।

रक्त-पात
सीता-वक्षस्थल,
कब तक सहता।

पृष्ठ संख्या (178)

सोये रहते राम !
कहाँ रक्षा-व्रत रहता।

सीता सहती रही हृदय पर
काक-चंचु ज्यों हल की रेखा।
सोते हुए राम से भी जब
दुर्वह अनाचार अनदेखा।
क्रान्ति बनी तृण-वाण,
ब्रह्म-शर तीनों लोकों तक
फिर आया !
कोई रक्षक नहीं बन सका,
पिता इन्द्र भी विवश हो गये,
रक्षा में कोई क्या आया ?

सत्ता-लोलुप हर जयन्त पर
रोम-रोष दुर्धर्ष।
नारी की रक्षा हो,

तृण की ओट शक्ति-संघर्ष।
राज्य छोड़, जब भी बसते
जनता के भीतर राम।
जब भी तन-कुचले, तृण टूटे,
मचा घोर कोहराम।

पृष्ठ संख्या (179)

कृषि की देवी
सीता की रक्षा में
सब कुछ त्याज्य
राम-राज का अर्थ
सदा होता
जनता का राज्य।
अत्याचारों के पर्वत
धरती पर भार बने हैं।
तिनके से तिनके मिल
पर्वत रचते उनसे,
अधिक शक्ति मय,
जब भी उनकी जड़ता से
गति-विध में, भूकम्प पनपे
धरती हिलती,
पर्वत धँसते
पर तृण हँसते
हो जाता आकाश काश-मय।

यही धर्म-रथ
सदा राम के साथ रहा है।
उसे इन्द्र ने भेजा, किसने सत्य कहा है ?

पृष्ठ संख्या (180)

धर्म-भीरु जब हुए राम
सीता को त्यागा।
धर्म-हीन जब हुए
निहत शंबूक अभागा।

ज्ञानमय राम

धर्म अशरीर
भाव मय भरत
धर्म सशरीर
कर्ममय नवयुग में शम्बूक
धर्म का वाहन हो तप-धीर।

मनुज जयन्तों की—
करनी का उत्तर बनकर,
कर्मों का निर्धारक बनकर
सब धर्मों में रहे प्रतिष्ठित
प्रेरक बनकर धारक बनकर।

मिट्टी के पर्वत, सोने के बने, इन्द्र की इच्छा।
सोना उगले धरती के धारक फणीन्द्र की इच्छा।
कर्मशील हो जन-बल, सीता फिर हो हल की रेखा।
शस्य-श्यामला धरती हो मानव-संकल्प अलेखा।

पृष्ठ संख्या (181)

पर्वत ही रोकते स्वर्ग को, स्वर्ण-मेरु के प्रतिनिधि।
इन्द्र उसी की रक्षा करता, देव उन्हीं के आश्रित।

कुश-लव जलते
फिर उग आते।
उनका सर्वनाश क्या ?

रावण के तो दस सिर केवल
गिरते फिर उग आते।
तृण असंख्य हैं,
उनकी महिमा,
आच्छादन बन छाते।
स्रोत शक्ति का—
नाभि-सरोवर,
हो जिसके प्राणों में।
उसे सुखा देने की क्षमता
है किसके बाणों में
उसे जानता बंधु विभीषण,
कहे राम से आकर।

असुर नाश हो तभी, स्वर्ग-योजना
सफल हो जाकर।

पृष्ठ संख्या (182)

अत्याचार निपीड़ित होकर
चारों ओर निशाचर
मायावी रच रहे अँधेरा
जनम-जनम का घेरा
सूर्यवंश कर रहा प्रतीक्षा,
पवन-पुत्र से प्रेरित।

पृष्ठ संख्या (183)

•

बाण-बोध

जन-बल ही ब्रह्मास्त्र
वही तिनके में शक्ति जगाता।
राम-रोष, संचित,
तिनके-तिनके में आग लगाता।

हैं संकल्प-शक्ति ही मन की
ब्रह्म-शक्ति बन जाती।
जन-धारा से जुड़कर,
मुड़कर मानव में हहराती।

ब्रह्म-लोक तक,
ब्रह्म-शक्ति से—
त्राण नहीं मिलता है,
पुत्रों की करतूत
पाप से इन्द्रासन हिलता है।

अन्तरिक्ष तक
तृण-शर धावित
ग्रह-ग्रह तारा-तारा।

पृष्ठ संख्या (184)

जहाँ जयन्त,
भयातुर पहुँचा
वहीं शराग्नि-प्रधारा।

केवल दो अंगुल का अन्तर
मृत्यु और जीवन में।
नाप रहा आकाश ब्रह्मशर
हत जयन्त के मन में।

पाप-कर्म में कोई रक्षक नहीं,
सभी भक्षक हैं।
मृत्यु-भीत हो रहा परीक्षित
जगह-जगह तक्षक हैं।

•

स्वर्ग समझता शाप जिसे
वह मृत्युलोक में वर है।
मरना-जीना अति स्वाभाविक
जीवन कहाँ अमर है।

पृष्ठ संख्या (185)

स्वर्ग लोक में अब भी
अमृत-घट छलके पड़ते हैं।
सोम-चषक के आगे वह
घट भी फूटे गड़ते हैं।

जन्म-मृत्यु से मोक्ष
चाहते रहे भूमि के प्राणी।
निन्दनीय है मोक्ष
भक्ति ही वन्दनीय सुर-वाणी।

आज भूमि की जीभ बोलती
अपने मन की भाषा।
उनका नव संदेश बने
भावी युग की परिभाषा।

नया मनुष्य,
नया संवेदन,
नयी बुद्धि, बल अर्जित।
यन्त्र-पंख पर बैठ
मनुजता करे अतीत विसर्जित।
अर्जन, सर्जन और विसर्जन,
मन में रहे समाहित।
संस्कृति का आलोक छुए
प्राणों को, आत्म-प्रवाहित।

पृष्ठ संख्या (186)

मृत्यु स्वर्ग से निष्काषित थी
तब भय का क्या कारण ?
काक रूप जब लिया अचानक
नव जयन्त के धारण।
मृत्यु लोक का भय,
स्वर्गिक काया के बीच समाया।
कंपित तन, थर-थर-कर काँपा,
गहन महाभय छाया।
कहाँ महाभय शेष रहे
क्षमाशीलता बने अपापी,
करुणा का संदेश मिलेगा
व्यक्ति-व्यक्ति में जन-गण व्यापी।

पृष्ठ संख्या (187)

•

दया भाव

जिसके प्रति अपराध,
उसी से क्षमा मिलेगी।
जो करता अपराध—
उसी को दया मिलेगी।

रोष राम को, सीता चुप थी।
पति आकुल, परिणीता चुप थी।

मन की किस करवट में सच था।
प्रलय काल था, वट में सच था।

सोते हुए राम जागे तो, दण्ड-पाणि थे।
तृण-शर धनु से छूटा, मानो चक्रपाणि थे।

दृष्टिपात, भ्रू-धनु से करते,
जल जाता तन।
किन्तु मन्त्रमय तृण-शर छोड़ा,
काँपा त्रिभुवन !
तिनका हिले राम के डर से—
यही भाव क्या

वह काँपे, नंदन वन काँपे
प्रभु-प्रभाव क्या
नारी का अपमान दुसह
धरती में, नभ में, अन्तरिक्ष में।
ब्रह्मलोक तक फैले,
अधमुख व्योम-वृक्ष में,
नीचे से ऊपर,
ऊपर से नीचे
हल्ला मचे नाम का
सुरपति-सुत का कोई रक्षक न हो,
व्याप्त हो, सुयश राम का।

हत जयन्त शरणागत होगा,
चाहे जितना भागे।
मन्त्रित शर-संधान—
समय की गति से चलता आगे।
जीवन-दया मानव-मन को,
कोमलता से भर जाती।
किन्तु राम-क्रोधाग्नि अखिल
भुवनों को भी थर्राती।

दण्ड दया का प्रतिविधान है।
दया दण्ड का समाधान है।
क्रूर-कर्म उत्कट निर्दयता।
स्नेह-भाव नवनीत सदयता।
करुणा से करुणा का नाता।
हो मानव-संस्कृति का त्राता।

पृष्ठ संख्या (190)

•

नारद-शाप

कभी मन में
वासना का ज्वार
देख नारद हुए विचलित,
भौंह-धनु पर
शर चढ़ाये मार
मिले उनको शीलनिधि कन्या,
वरण हो क्षिप्र।
रुद्र-गण सुख लूटते थे
पर विकल थे विप्र।
स्वयं आये हरि
वरण कर गये कन्या
विष्णु को पा
स्वयं लक्ष्मी हुई धन्या
किन्तु नारद
शाप-मुद्रा में समाहत—
परम वैष्णव
परम आहत।

पृष्ठ संख्या (191)

दे दिया तत्काल गाढ़ा शाप।
राम-उर में हो विरह-सन्ताप।
हरि स्वयं थे राम
लक्ष्मी-भाव सीता में निहित था।
भक्त होकर शाप देना
और निज आराध्य को

क्या विधि-निहित था।

राम-सीता
एकता का सुख
सहज ही प्राप्त कर लें
है कहाँ संभव।
क्रोध विह्वल
नारदी अभिशाप ने
जब कर दिया
उसको असंभव।
हुई तत्थरा इन्द्र सुत-बाधा
गहन वन में
कुंज लीला
विरसता से भर गयी
दया आयी
या कि पश्चाताप उपजा

पृष्ठ संख्या (192)

क्यों दिया आराध्य को अभिशाप।
सदय नारद, हृदय पीड़ित वासना संक्षुब्ध
राम-सीता देख उनकी दशा मन में मुग्ध
कवि हृदय में स्फुरित
सहसा प्रकट होता नारदी संकट,
दया का यह नया संदर्भ।
जोड़ता जो, नत-प्रणत
सुरपति-तनुज को,
राम-धनु से, ब्रह्म-चालित,
शर-प्रयोजित दर्भ।

पृष्ठ संख्या (193)

•

अपराध-मोक्ष

देव-देह थी,

काक-वेश था,
अर्ध-निर्वसन नारी।
सोये राम,
गाढ़ निद्रा में—
युवा-शक्ति अपकारी।

•

जयन्त-भाव

मुझे इन्द्र-भय प्रेरित करता।
मैं क्यों राम-वाक से डरता।
जो कुछ हुआ
किया मैंने ही,
सब मुझको स्वीकार।
भय से सबको
त्रस्त कर रही
यही राम की धीर-वीरता !

पृष्ठ संख्या (194)

कहाँ क्षमा का प्रश्न
दण्ड जब आँख चीरता।
मेरे कामुक-मन ने भी ली,
वैदेही की कठिन परीक्षा।
केवल सीता में थी मुझको
मिली सहज मातृत्व-स्नेह की
निर्मल छाया।

उनके तन को छूकर तत्क्षण
सहज हो गयी पावन काया।
नहीं मिला जो भाव शची में
जिससे मैंने जन्म लिया है।
सीता में मिल गया भाव वह,
जिसको मैंने त्रस्त किया है।

रहा नोंचता
मैं ही उनका वक्ष शची-सा

मेरे स्वर्गिक हाथों में
        क्यों उग आये
        कौए के पंजे
नहीं जानता।

पृष्ठ संख्या (195)

क्या मेरे प्रति हुआ
        शची का मन था कुत्सित !
मुझमें सोये इन्द्र जग गये,
        उसने ही मेरे हाथों को
वज्रपाणि हो यह गति दे दी
मेरी चोंच प्रहार बन गयी
उस सीता पर

जिसमें सच्ची वत्सलता थी।
मेरे जैसा अपकारी पर भी ममता थी।
पुत्र-भाव था, निर्मलता थी।

मेरा हर प्रहार
उसने सह लिया अविचलित,
नहीं विकृति जागी उसमें,
        मेरी माता-सी।
उसमें असुर-रक्त का
        जलता स्पर्श नहीं था।
मुझे बना देता जो विह्वल !

मुझको दृढ़ विश्वास,
राम-शर
एक आँख मेरी

पृष्ठ संख्या (196)

हर लेगा यदि,
        तो सत्वर—
उसकी करुणा
नयी आँख दे देगी आकर।

उग आयेगी
दिव्य-दृष्टि सी
मेरे भीतर।

मैं पापी हूँ,
मैं अपकर्मी
        मर्मी आप विचारे।
मिले मुझे क्यों दण्ड अकेले
        दण्डनीय हों सारे !
मेरा ही अपराध नहीं था
        सब ने संगति साधी
माता-पिता-देव गुरु-परिजन,
        सबके सब अपराधी।

सहस्त्राक्ष था कभी—
हो गया योनि-सहस्त्री निष्फल।
यही इन्द्र का विरुद बन गया

        सबके मन में उज्जवल !
ऐसे परम-पिता का सुत मैं
        सभी कहीं यश मेरा।
चढ़ी वासना नदी डुबोती,
        नहीं चला बस मेरा

मेरा पिता
कुकर्म कराकर
मेरी रक्षा नहीं कर सका
भूल गयी यह बात उसे क्यों
देवराज वह, और अमर भी।

नहीं चाहिए मुझे राम से क्षमा,
                दया की भीख।
और वे भी तो देंगे सीख।
संभव है उनमें भी हो इन्द्र-अंश कुछ
विष्णु उपेन्द्र कहे जाते हैं
और शची पति-प्रिय जन-मन में।

इन्द्र-सहायक बनता कुक्कुट स्वयं चन्द्रमा
रामचन्द्र भी इन्द्र-तुल्य हैं—
चन्द्र सोम पर्याय समझकर

पृष्ठ संख्या (198)

सूर्यवंश में होकर भी क्यों
राम कहाते राम-चन्द्र यों।

मृत जयन्त
जैसे वाणाहत !
आकर गिरा भूमि पर कातर,
श्वसित चोंच फैलाये।

प्यासी काया
साँस फूलती
शिथिल पंख छितराये।

प्रखर इषीक-वाण
लगता ज्यों
आँख वेध जायेगा।
राम-रोष के आगे
मन में कौन दया लायेगा।

हत जयन्त,
मृत होना निश्चय।
राम-प्रिया के अपराधी का
चिर-निद्रा में सोना निश्चय।

पृष्ठ संख्या (199)

अब तक क्यों जयन्त जीवित है
इसी प्रश्न को आँक रही है।
सीता की वात्सल्य दृष्टि
उसकी आँखों में झाँक रही थी।

जितनी काया ने

शतशः आघात सहे थे
वक्षस्थल से सतत
रक्त की धार बही थी।
उसके भी मन में करुणा थी
भागीरथी मिलित अरुणा थी

सहसा वीणा हुई निनादित
अन्तरिक्ष से झंकृति आयी।
बना एक आलोक-वृत्त सा
नारायण ध्वनि पड़ी सुनायी।

जहाँ धराशायी जयन्त था
करुणा ही करुणा बहती थी।
दर्भ-विशिख चुभ रहा आँख में,
आँसू से सब कुछ कहती थी।

पृष्ठ संख्या (200)

नारद का अभिशाप
मूर्त होकर प्रस्तुत था।
कातरता, वेदना, त्रास,
मुखरित अस्तुत था।

युग्म-भाव में बाधक बनकर
काक-रूप हो इन्द्रज आया।
नारद-हृदय दया से प्रेरित
काव्य-रूप हो मन पर छाया।

पृष्ठ संख्या (201)

•

काक-विकल्प

काक ही संकल्प
काक-विकल्प।
राम-कथा अनन्त,
साधन अल्प।

ज्ञानवान भुशुण्डि
काक शरीर
पावन, धीर।
ज्ञानहीन जयन्त
काक-शरीर
काम-अधीर।

काक सम्मुख विनत
उन्नत माथ।
ब्रह्मज्ञानी गरुड़
जोड़े हाथ

उसी भय से त्रस्त
दीन जयन्त

पृष्ठ संख्या (202)

हुए नारद स्वयं
सकरुण सन्त
किन्तु उनमें निहित
लीला-तन्त्र।
गूढ़ता में लीन,
देते मन्त्र।
जहाँ भी हो प्रेम,
उनको कष्ट !
नारदी-मन्त्रणा
शान्ति विनिष्ट।
किन्तु असुरों का
सतत संहार।
नारदी मति रही करती,
नहीं मानी कभी उसने हार।

पृष्ठ संख्या (203)

•

व्यापक राम-कथा संदर्भ

राम-सीता कहाँ सीमित।
भावना भी है असीमित।
किन्तु मन की कपट-रचना।
देव-दानव द्वन्द्व-शापित।

बिना मायावी हुए
लीला-पुरुष भी नहीं रहते।
विवश युग को धार में
निरधार सारे धर्म बहते।

नहीं कोई व्यक्ति ऐसा
द्वन्द्व से ऊपर उठे जो।
आत्मबल लेकर बढ़े,
आकाश-सा भूपर उठे जो।

और हर संघर्ष में,
चट्टान बनकर टिक रहा हो।
दूसरों की नियति बन कर
स्वयं सबका दुख सहा हो।

पृष्ठ संख्या (204)

राम ही ऐसे मनुज हैं।
सूर्यवंशी तेज, दशरथ के तनुज हैं।
राम ही ऐसे मनुज हैं।

यदि चलें वे न्याय पथ पर।
इन्द्र-रथ को त्याग
हो आरूढ़ अपने धर्म-रथ पर।

जो कपट-कर्मी
परम स्वार्थी
भला वह इन्द्र।
अपना रथ दिलाये।
राम को स्वीकार हो क्यों

इन्द्र का उपहार।
अहल्या के शाप से
जो मुँह छिपाये !
भूमि पर हो
नयी मर्यादा सहज स्वीकार
इन्द्र-रथ को
त्याग दें यदि राम ही इस बार !
अयाचित उपहार देने की

पृष्ठ संख्या (205)

स्वार्थ-ग्रस्त परम्परा निस्तेज हो।
राम के रण में लड़े जो कपि-भालु
सहज सेवा-भाव उनका
लोक-वन्द्य सतेज हो।

पृष्ठ संख्या (206)

•

सापन स्वर

सदा सीता बनी मर्यादा
बने जब राम पुरुषोत्तम ।
हर हृदय में, प्रेरणा बन
रच रही नारी नरोत्तम।

सृष्टि में रखता
        सदैव प्रभाव।
राम सीता सहित,
        सन्मुख-भाव।

सीता सन्मुख राम,
राम के सन्मुख सीता।
सीता-विमुख राम जब,
क्षण वह युग-सा बीता।

सीता-संरक्षक होने पर
वे जयन्त-जयकारी, त्राती |
सीता-निर्वासक हो,
निर्दय राम बने
शम्बूक-विघाती।

पृष्ठ संख्या (207)

जब तक थे बनवासी,
लोक-हित-रक्षणकारी।
जब से हुए अवधपति
तब से
न्याय नीति सब उनसे हारी।

राजा बनना
और प्रजा-वत्सल हो पाना,
राम-राज को छोड़,
सत्व यह किसने जाना।

जनता का प्रतिवाद,
हृदय ज्वाला-सा रहता।
सीता-स्नेही चित्त,
रुक्षता कितनी सहता।

किन्तु राम भी कहाँ
हो सके पूर्ण विरागी।
सरयू तट पर
आत्म-विसर्जन
कर देने की वृत्ति
राम के मन में जागी।

पृष्ठ संख्या (208)

राम नाम-मय तत्व बन गये।
मध्यदेश का सत्व बन गये।
कहीं मिल गये, कहीं खो गये,

ब्रह्मलीन हो, ब्रह्म हो गये।

जल ने जल को
नभ ने नभ को
अग्नि रूप हो बिम्बित देखा
        सूर्यवंश में।
आत्मरूप होकर पहचाना
        दिव्य वंश में।

पवन पवन में
धरा धरा में
जन-गण-मन की परम्परा में
        लीन हो गये
वाल्मीकि-व्यासों ने देखा, राम कौन थे।
कालिदास-तुलसी ने देखा राम कौन थे।

धरती की पुत्री ने जाना,
राम कौन थे ।
पवन-पुत्र ने भी पहचाना,
राम कौन थे।

पृष्ठ संख्या (209)

मृतक रावण हो
कि हो आहत जयन्त,
राम सुख पायें
कि हो जनता सुखी,
अपहरण के हों
कि हों अपमान के,
या कि प्रियता और संगति के—
महाकाव्यों में रचे हों
या बने हों शिला-चित्रों में
सभी हैं संदर्भ जीवित—
        कवि हृदय में |
व्यक्ति और समाज का अन्तर
        तिरोहित हो न पाये भावना में, कल्पना में
समय पूछेगा स्वयं से
नये बनते मनुज की अवधारणा में

काव्य क्या है |
हुआ सार्थक या निरर्थक
युगों से चलता रहा जो
मानसी संकल्प
कितना महत्,
कितना अल्प,

पृष्ठ संख्या (210)

हो सका क्या सिद्ध
अब तक कहीं कुछ भी |
मिला कुछ परितोष मन को
या कि युग को

क्रान्ति-मुख हो
नारकी जीवन,
अधोगति छोड़कर—
हो उर्ध्व-चेतन |
रहे रागी या विरागी,

किन्तु मानव-नियति का
नूतन विधायक बने,
आत्मघाती नहीं,
केवल आत्मत्यागी |
राम का अवशिष्ट अनुभव
कृष्ण को सम्भव बनाता |
और सीता-रूप—
राधा-रूप में प्रतिक्षण समाता |

नयी लीला-दृष्टि देता,
नये रस की सृष्टि करता |

पृष्ठ संख्या (211)

सम्प्रदायों-साधकों में,
आँसुओं की वृष्टि करता ।

और वही फिर—

संभावित को देता जयता।
त्रेता में कलि की नव-नयता।
राम-जयन्त, रोष-सहृदयता।
द्वन्द्व-दृष्टि की आत्म-विलयता।
मानव-मन कवि-मन बन जाता।
कवि-मन, जनम-जनम का नाता।
रहें राम कवि-मन में संस्थित
शिव होकर हों सदय प्रतिष्ठित।

•

समापन

गौतम-वेशी इन्द्र,
जाल रथ—
परदारा रत होता।

काक-वेश
धर कर जयन्त
सीता में कल्मष धोता।

काक-वेश था,
रही मांस तक—
सीमित उसकी दृष्टि।

सीता का
उन्नत वक्षस्थल ही
मन की आकृष्टि।

पाप-दृष्टि
प्रतिशोध-भावना में—
ओझल हो जाती।
सब कुछ साधन बन जाता
जब हो जयन्त परघाती।

हुआ अहल्या का सतीत्व
सत्ता-घर्षित, आतंकित !
किया राम ने
नारी का सम्मान
        मान अकलंकित।
मूल्यों का संघर्ष
देह से आत्मा का संयोजन
निर्णय कैसे करे मनीषा,
        कितना गूढ़ प्रयोजन।
जो भी
आरोपित हो तन पर,
मन पर उसकी छाया—
पड़ती है,
पर नहीं कलंकित कर
        आत्मा की काया।
मानव-मन
सर्वोच्च शिखर है,
निर्मलता से उज्जवल।
उसके भीतर ही
निर्धारित होता
        नैतिक सम्बल।

पृष्ठ संख्या (214)

अन्तः करण
मनुज के भीतर
जीवन को गति देता।

संशय में
निर्णय का बल ही
पूरित कर क्षति देता।

आत्मदेह
देहात्मावाद से—
भिन्न दिशा अपनाती।
निज स्वभाव की खोज निरन्तर,
पर को स्वजन बनाती।

जब तक
जो कुछ आरोपित लगता,
तब तक संघर्ष।
आत्मभाव का उदय
सदा बनाता—
        मन का उत्कर्ष।
आत्म-अनात्म-विवेक,
मनुज को—

पृष्ठ संख्या (215)

चैन नहीं देता है
आत्मीयता खोजता मन,
        परकीय भाव सेता है।
नारी नहीं वस्तु है कोई,
जीवन पण्य नहीं है।
आत्मीयता समुद्र-भाव है,
जल कार्पण्य नहीं है।
पर नारी से आत्मभाव
जिस संस्कृति में गर्हित हो,
आत्म-दृष्टि सीमित हो जिसकी,
उससे क्या जन-हित हो।
पर नारी है वही,
सदा जो—
        नर का साधन समझे।
साध्य जहाँ
        नर में लक्षित हो,
        उससे सुलझे-उलझे।
युग्म-भाव,
एकात्म-भाव से रहित,
        भार भू पर है।

पृष्ठ संख्या (216)

नर-नारी-संयोग
साध्य-साधन से भी ऊपर है।
प्रेम शब्द छोटा है
पूरा भाव नहीं देता है।

आत्मीयता, सहजता, प्रियता,
सख्य रूप लेता है।
नर-नारी-सम्बन्ध
रूढ़ि से मुक्त मानसिकता में,
रसमय हों, गहरे हों, व्यापक हों,
        जलती सिकता में।
असहमति के साथ
जब भी
राम को साधन बनाया,
स्वयं सीता पड़ी संकट में,
कपट-मारीच
        स्वर्णिम छद्म-काया।
वही हठ
लक्ष्मण विमति के साथ—
सम्मति लिए मन में।
धनुधरों से हो अरक्षित
        हरी सीता गयी क्षण में।

पृष्ठ संख्या (217)

कपट रावण का,
निपट विश्वास सीता का !
कौन-वर्णन करे
        ऐसी आत्म-भीता का !

शान्ति सहज अनुभव से आती,
भ्रान्ति गहन चिन्तन से जाती।

नर-नारी के बीच निरन्तर,
उगती आकांक्ष हरियाती।

क्रान्ति जहाँ अन्याय उग्र हो,
स्नेह जहाँ मन-प्राण व्यग्र हो।
खंडित सत्यों से विमुक्ति पा,
समाजिक जीवन समग्र हो।

मन वाणी का कमलासन हो,
कर्म, प्रेरणा, आश्वासन हो।

इच्छाओं पर भी निरोध हो,
शासन पर भी अनुशासन हो।

संदेहों के बीज लुप्त हों,
स्वार्थ सहज परमार्थ-युक्त हों।
लोक-चेतना गतिमय-मतिमय,
व्यक्ति-समाज विभेद-युक्त हों।

पृष्ठ संख्या (218)

•

दृष्टि-कोण

रचनाधर्मी मनुज छंद्य है।
श्रमकर्मी भी सहज-वंद्य है।

ब्रह्म-कमल विकसित कमलासन।
अन्तःकरण विमल प्रश्वासन।।
भौतिक-सुख का नहीं अन्त है।
आत्मिक-सुख-सीमा अनन्त है।।
लक्ष्य सुनिश्चित हो जीवन का।
मन से तन का, तन से मन का।।

होता रहे सतत अनुशासन।
नभ पर हो आत्मा का शासन।।
आत्म-शक्ति सबसे ऊपर हो।
शान्ति सतत निर्भय भूपर हो।।
है त्रिपाद विस्तार अलक्षित।
ग्रह-तारक प्रकाश से लक्षित।।

वह प्रकाश आत्मा में केन्द्रित।
हर प्राणी में सहज समाहित।।

पृष्ठ संख्या (219)

कहीं अभी कुछ और शेष है।

शेष धरित्री का निवेश है।।

विष शिव पीते रहें मुक्त गति।
क्षीर-समुद्र, विष्णु लक्ष्मी-पति।।

लक्ष्मी रहे विष्णु की चेरी।
करे सरस्वति क्यों मति-फेरी।।

स्वर्ग-कामना बने विकृति क्यों।
हो अपूर्ण मानव-संस्कृति क्यों।।

मानव मानवता का रक्षक।
बने सहज ही, क्यों हो भक्षक।।

इन्द्र सदा मानव विरोध में।
क्यों तत्पर हो शक्ति-रोध में।।

संघर्षों में न हो पराजित।
तृणमय वाण ब्रह्म-वर्चस्वि।।

राम बनें जन-बल के वाहक।
मानव-करुणा के संवाहक।।

सीता-निर्वासन सब का दुख।
रहें राम सीता के सन्मुख।।

पृष्ठ संख्या (220)

धरती के पुत्रों की गरिमा।
बने राम की अभिनव महिमा।।

क्यों शम्बूक खड्ग-पात्री हो।
धरती ही सब की धात्री हो।।

दे शम्बूक राम को उत्तर।
हो जयन्त अपदस्थ निरन्तर।।

तृण-शर हो अमोघ भयकारी।

तृण से रक्षित संसृति सारी।।

नर की नर-संहार नियति क्यों।
मानव में दानव की गति क्यों।

सदा देव दानव का रण ही।
बन जाता सबका कारण ही।।

मानव की गति स्वयं प्रामाणित।
ध्रुव विकास उसका यन्त्राश्रित।।

किन्तु यन्त्र ही बने यन्त्रणा।
मन क्यों ऐसी करे मन्त्रणा।।

कर्म-वचन-मन की संगति में।
सहज निरन्तरता हो मति में।।

गति-यति, यति-गति लय-मय जीवन।
नर्तन में प्रतिपल परिर्वतन।।

नारी-पुरुष सभी में स्पंदन।
सब की गंध सुवासित चंदन।।

आत्मीयता विरोध-विजयिनी।
मानव-मानव में संचयिनी।।

सब में समरसता, सब में रस।
रहे विरसता क्यों मन में बस।।

मानव-मन संशय-खग्रासित।
यन्त्र-युद्ध अणु से संत्रासित।।

जटिल प्रश्न कर रहा निरुत्तर।
आत्मबोध ही संभव उत्तर।।

मानव की सृजनात्मक सत्ता।
बनती उसकी स्वयं महत्ता।।

मन में ले जन-जन की पीरा।
अमर सत्य कह गया कबीरा।।

---

*" हम न मरें, मरिहे संसारा।
हमको मिला जियावनहारा।।"

•

गति-बोध

सर्जन-पालन-महानाश
आवर्तन करते।
ब्रह्मा-विष्णु-महेश
निरन्तर नर्तन करते।।
कैसी है वह धुरी
सभी को गतिमय रखती।
अन्तरिक्ष तक पहुँच
धरा पाताल निरखती।
स्थिति किसमें है—
अगर सभी गतिमय है प्रतिक्षण।
अणु-परमाणु पदार्थ
सूक्ष्म संदर्शन तत्क्षण।।

आत्म-बोध ही काल-बोध है।
वस्तु-बोध सर्वात्म-बोध है।।

मानव ही सर्वोपरि प्रत्यय—
नव-चिन्तन का यही शोध है।।

दोनों आँखों में जिसके
दिक्काल समर्पित।
दोनों हाथों में जिसके
युग-कर्म प्रवर्तित।।
वह मनुष्य किसकी छवि रखता,
कौन बताये।
अपने में निज रूप परखता,
कौन बताये।।
रहे गूँजती युगों-युगों तक
उसकी गाथा।

किसी नये कवि ने कुछ ऐसा
शब्द कहा था।

दुख-निवारिणी
सुख-संचयिनी।
मानवता ही
बने विजयिनी।।

•